स्थितप्रज्ञ-दर्शन

आचार्य विनोबा

अनुवादक

श्री हरिभाऊ उपाध्याय

१६४६

सस्ता साहित्य मण्डल

नई दिल्ली

प्रकाशक,
मार्तण्ड उपाध्याय
मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल,
नई दिल्ली

प्रथम बार : १९४९
मूल्य :
सवा दो रुपया

मुद्रक,
न्यू इण्डिया प्रेस,
नई दिल्ली

निवेदन

उन्नीस सौ चवालीस के जाड़ों में सिवनी जेल में कुछ लोगों के सामने 'स्थितप्रज्ञ-लक्षण' पर दिये गये ये व्याख्यान हैं। सारे हिन्दुस्तान में आज हजारों सत्याग्रही स्त्री-पुरुष रोज शाम को प्रार्थना में इन लक्षणों का पाठ भक्तिभाव से करते हैं। उनके उपयोग के लिए ये व्याख्यान यहाँ पुस्तक-रूप में उपस्थित किये गए हैं। ऐसा करते हुए शास्त्र-संतोषार्थ उनमें आवश्यक परिवर्तन भी किया गया है।

स्थितप्रज्ञ के लक्षणों में एक समग्रदर्शन ही भरा हुआ है। उसे खोलकर दिखाने का यहाँ प्रयत्न किया गया है। संभव है कि उसका कुछ भाग पाठकों को पहले ही वाचन में कदाचित् हृदयंगम न हो। परन्तु अनेक बार पढ़कर चिन्तन करते रहने से, और जितना समझ में आ गया है उतने का प्रयोग करते रहने से, धीरे-धीरे अनुभव के द्वारा सारा आशय खुल जायगा।

तीस वर्षों के निदिध्यास से जो अर्थ स्थिर हुआ उसका विवरण यहाँ किया है। इसमें कुछ कमी-बेशी तो होगी ही। तो इसका उपाय यही है कि सब कुछ ईश्वरार्पण करके छुट्टी पावें। मेरे विचार में इसी हेतु से यह प्रकाशन किया जाता है।

परंधाम, पवनार
१२-४-४६

—विनोबा

विषय-सूची

जाता है। इसलिए संयम की आवश्यकता; बुद्धि नौका की तरह तारक, परन्तु मन की पकड़ में आ जाय तो वही मारक हो जाती है; बुद्धि और मन सदा के लिए जुदा नहीं हो सकते। या तो बुद्धि मन के वश में हो जायगी, या मन बुद्धि के बस में रहेगा। दूसरी बात श्रेयस्कर; ज्ञानदेव का खास सुझाव : ज्ञानी के लिए भी असावधान होकर इन्द्रियों को छुट्टा छोड़ देने की गुंजाइश नहीं; वस्तुतः ज्ञानी नियम से संयमी नहीं रहता, स्वभाव से रहता है; ज्ञानी तो ठीक परन्तु साधक को भी संयम भाररूप नहीं होता; स्थितप्रज्ञ के लिए असंयम अशक्य : क्योंकि स्थिर-बुद्धि का तो आधार ही संयम है; सावधानता की अपेक्षा न रखने वाली सहजावस्था एक प्रकार से मानवी आकांक्षा-मात्र है। अतः सावधानी का संकेत हर हालत में उचित ही है; इस तरह संयम की आवश्यकता आदि से अन्त तक सिद्ध हुई, अतः निगमन।

अन्तिम विभाग : स्थितप्रज्ञ की स्थिति का खुलासा; खुलासे का पहला सांकेतिक श्लोक। इनकी रात सो उसका दिन और उसकी रात सो इनका दिन; अर्थात् स्थितप्रज्ञ की कुल जीवन-दृष्टि ही दूसरों से उलटी होती है; जैसे खाना, यही बात नींद की; यही बात मामूली व्यवहार में; यहाँ के रूपक की भाषा में सांख्य-बुद्धि, योग-बुद्धि और स्थित-प्रज्ञ के लक्षण तीनों एक में लपेट दिये हैं; सांख्य-बुद्धि का स्वरूप; आत्मा का अकर्त्तापन, तदनुसार प्रस्तुत श्लोक का पहला अर्थ; योग-बुद्धि का स्वरूप : फलत्याग; आनुषंगिक चर्चा—'मा फलेषु' का यह अर्थ कि फल का अधिकार नहीं, गलत; फल का अधिकार तो है, पर उसे छोड़ देना है;

नीति-शास्त्र की भूमिका : जिसका कर्म उसको फल; योग-बुद्धि की भूमिका इससे ऊँची : तदनुसार इस श्लोक का दूसरा अर्थ; स्थितप्रज्ञ लक्षणानुसार इस श्लोक का तीसरा अर्थ; तीनों अर्थ-सूचक गीता के श्लोक में बताये संकेत।

खुलासे का दूसरा सांकेतिक श्लोक। ज्ञानी समुद्र की तरह सब काम को पचा जाता है; काम-शब्द के अर्थ की छान-बीन, स्थित-प्रज्ञ सब काम को पचा लेता है, यह उसके ज्ञान का गौरव है; ज्ञान के गौरव और ज्ञान के स्वरूप के बीच में उसका नीति-सूत्र है; बीच में अर्थात् कहाँ? यह तत्कालीन समाज की भूमिका पर अवलम्बित रहेगा; ज्ञानी के नीति-सूत्रों के सम्बन्ध में ग्रान्थिक कल्पना अनर्थकारक; इस श्लोक को देखने की दूसरी दृष्टि; स्थित-प्रज्ञ भावावस्था में सब शुभ देखता है; शुभ + अशुभ = शुभ। क्योंकि अशुभ = ०; अशुभ मिथ्या, साधना मिथ्या, अशुभ का मरण मिथ्या। केवल एक शुभ सत्य। यह है भावावस्था।

स्थितप्रज्ञ-लक्षणों का उपसंहार। स्थितप्रज्ञ को कोई कामना नहीं, जिजीविषा नहीं; मुमूर्षा भी नहीं, मरण की भीति भी नहीं; जीवन की अभिलाषा ही वास्तविक मरण की भीति; इसके जाते ही जीवन आनन्दमय हो जाता है; 'चरति' पद के द्वारा यही सूचित किया है; 'चरति' का अर्थ 'विषयान् चरति' नहीं; 'चरति' का अर्थ आश्रम-सन्यास नहीं; 'चरति' याने विहार करता है। ज्ञानदेव की भाषा में—; कामना और जीवनाभिलाषा छूटने पर अब शरीर बाकी रहा सो केवल उपकारार्थ। 'निर्ममो निरहंकारः'

पद से यही भाव सूचित किया है; पूर्वोक्त भावावस्था और क्रियावस्था से भिन्न स्थित-प्रज्ञ की यह ज्ञानावस्था बिल्कुल अवर्णनीय; भावावस्था में समग्रता है; क्रियावस्था में विवेक है; तीनों अवस्थाएँ मिलाकर स्थित-प्रज्ञ की एक ही अखण्ड वृत्ति।

स्थित-प्रज्ञ की तिहेरी अवस्था के मूल में ईश्वर का त्रिविध स्वरूप; ईश्वर का पहला रूप केवल शुभ; दूसरा विश्वरूप; तीसरा शुभाशुभ से परे ब्रह्म-संज्ञित; गीता की परिभाषा में 'सत्', 'सदसत्' 'न सत् नासत'; तर्क से सदसत् की चार कोटियाँ हो सकती हैं। इनमें तीन ही ईश्वर पर चरितार्थ; ईश्वर के और तदनुसार स्थितप्रज्ञ के जीवन का यह त्रिविध स्वरूप 'ज्ञान-यज्ञेन चाप्यन्ये' श्लोक में सूचित, इसीका और अधिक स्पष्टीकरण; बाह्य जीवनाकार में भेद दिखाई देने पर भी सभी स्थितप्रज्ञों को तीनों अवस्थाओं का अनुभव होता है; ये अवस्थाएँ परस्पर-सम्बद्ध, परस्पर उपकारक ही हैं; इस विषय में सनातनियों की तर्क-प्रणाली भ्रमपूर्ण।

भाव द्वारा क्रिया का नियमन होता है—अधिक विवरण—वही बात ज्ञान के द्वारा भी। इसीसे निष्काम कर्मयोग का जन्म होता है; स्थितप्रज्ञ की त्रिसूत्री 'ॐ तत् सत्' के द्वारा सूचित; पहला पद 'ॐ'। ॐ शब्द भावावस्था की लब्धि के लिए भावनीय; ॐ अक्षर वर्ण-पात्र का प्रतीक; ॐ की व्युत्पत्तिः ॐ एक धातुरूप; दूसरा पद तत् ज्ञानावस्था की प्राप्ति के लिए चिन्तनीय; तीसरा पद सत् क्रियावस्था की सिद्धि के लिए सेवनीय; कुल मिला-

कर 'ॐ तत् सत्' यह मन्त्र व्यापक, अलिप्त और परिशुद्ध जीवन का वाचक है। वही किसी भी पूर्ण विचार का स्वरूप है; उदाहरणार्थ, सत्याग्रह; यही बात सारे जीवन पर लागू होती है; उपसंहार—अर्जुन के प्रश्न का आकार और उसके अनुसार स्थितप्रज्ञ-लक्षणों का प्रवाह।

स्थितप्रज्ञ-लक्षणों की अनुभवसिद्धि फलश्रुति; 'स्थिति' शब्द का स्वारस्य; आत्म-ज्ञान और ध्यान-समाधि का भेद—ध्यान उतर जाता है; आत्मज्ञान और अन्य ज्ञानों का भेद। अन्य ज्ञान भार-रूप आत्मज्ञान, ध्यान और इतर ज्ञानों का अधिक विवरण; ब्राह्मी स्थिति अंतकाल में भी टिकती है; ब्राह्मी स्थिति में 'अगर-मगर' के लिए अवकाश नहीं है; शंकराचार्य का विशेष अर्थ उपयुक्त : लेकिन अनावश्यक; गीता का परम लक्ष्य ब्रह्म-निर्वाण; वही जीवन की सफलता; ब्रह्म-निर्वाण का अर्थ है देह को फेंककर व्यापकतम होना; इसी स्थिति में लोक-संग्रह परिपूर्ण होता है; वहाँ देह नहीं है, क्योंकि देह की आवश्यकता नहीं है; बौद्धों ने निषेधक शब्द 'निर्वाण' ले लिया; वैदिकों को 'ब्रह्म-निर्वाण' विधायक जैसी भाषा मधुर प्रतीत हुई; वस्तुतः दोनों एक ही हैं।

स्थितप्रज्ञ-दर्शन

स्थितप्रज्ञ-दर्शन

पहला व्याख्यान

(१)

१. गीता में स्थितप्रज्ञ के लक्षणों का विशेष स्थान।

स्थितप्रज्ञ के लक्षण गीता का अतिशय प्रसिद्ध विभाग है। ठेठ प्राचीन काल से लेकर आज तक इतनी प्रसिद्धि गीता के किसी भी दूसरे विभाग को शायद ही मिली हो। इस का कारण है। स्थितप्रज्ञ गीता का आदर्श पुरुष-विशेष है। यह शब्द भी गीता का अपना खास है। गीता के पूर्ववर्ती ग्रन्थों में वह नहीं मिलता। अलबत्ता बाद के ग्रन्थों में बहुत पाया जाता है। स्थितप्रज्ञ की तरह गीता में आदर्श पुरुषों के और भी वर्णन हैं। कर्मयोगी, जीवन्मुक्त, योगारूढ़, भगवद्भक्त, गुणातीत, ज्ञाननिष्ठ इत्यादि नामों से अनेक आदर्श-चित्र भिन्न-भिन्न स्थानों में आये हैं। परन्तु इन आदर्शों को औरों ने भी उपस्थित किया है। गीता में ये आदर्श भिन्न-भिन्न साधनाएं बताते हुए उनके सिलसिले में उपस्थित किये गये हैं। स्थितप्रज्ञ से वे भिन्न पुरुष हों, सो बात नहीं। स्थितप्रज्ञ के ही वे अनेक पहलू हैं। उन सबके वर्णनों में स्थितप्रज्ञ के लक्षण गीता ने प्रायः कहीं-न-कहीं गूंथ ही दिये हैं। जैसे—पांचवें अध्याय में संन्यासी अथवा योगी पुरुष के वर्णन में 'स्थिर-बुद्धि' शब्द डाला है। बारहवें अध्याय में भक्त के लक्षणों की

समाप्ति 'स्थिरमतिः' शब्द के द्वारा की है । बुद्धि की स्थिरता हुए बिना कोई भी आदर्श पूरा नहीं होता । इसीलिए यह प्रकरण इतना महत्त्वपूर्ण माना जाता है। जीवन्-मुक्ति की सिद्धि के लिए सबूत पेश करते हुए भाष्यकार* ने स्थित-प्रज्ञ के लक्षण उपस्थित किये हैं । किन्तु अन्तिम आदर्श का, ध्येयमूर्ति का,साधक की दृष्टि से इतना सविस्तर विवेचन यह एक ही है ।

२. पूर्व-भूमिका--सांख्य-बुद्धि व योग-बुद्धि ।

स्थितप्रज्ञ के लक्षण समझने के लिए उसके पहले की भूमिका ध्यान में लाना उपयोगी होगा। यह प्रकरण गीता के दूसरे अध्याय के अन्त में आया है। इसके पहले विवेचन के दो भाग आगये हैं—(१) सांख्य-बुद्धि अर्थात् आत्मज्ञान अथवा ब्रह्मविद्या-शास्त्र और (२) योग-बुद्धि अर्थात् आत्मज्ञान के अनुसार जीवन की कला। शास्त्र व कला मिलकर ब्रह्मविद्या परिपूर्ण बनती है। किसी भी विद्या पर यह बात घटती है। जैसे संगीत-विद्या को ले लीजिए। किसीने संगीत-शास्त्र तो सीख लिया परन्तु गले से संगीत निकालने की कला नहीं साधी, तो वह संगीत किस काम आवेगा ? इसके विपरीत, यदि गले में कला तो है, परन्तु शास्त्र-ज्ञान नहीं तो फिर प्रगति का मार्ग ही खतम समझिए। यही स्थिति अध्यात्म-विद्या की, अतएव मनुष्य के जीवन की। मनुष्य का तत्त्वज्ञान उसकी बुद्धि में गुप्त रहेगा । प्रकट होगा उसका आचरण। उसके आचरण से ही उसके तत्त्वज्ञान का नाप संसार को व उसको भी मालूम होगा। आचरण व ज्ञान में अन्तर भले ही रहे, पर विरोध हरगिज न रहना चाहिए और अन्तर भी सतत कम करते जाना चाहिए।

---

*शंकराचार्य

यह काम है योगबुद्धि का। तुलसीदास ने सन्तों की उपमा त्रिवेणी से दी है। भक्ति को गंगा की व कर्मयोग को यमुना की उपमा देकर ब्रह्मविद्या को उन्होंने गुप्त सरस्वती का स्थान दिया है। इस उपमा के द्वारा उन्होंने यह सूचित किया है कि ब्रह्मविद्या सदैव सरस्वती की तरह अप्रकट ही रहने वाली है। उसे प्रकट करेगी योगबुद्धि। साधक को प्रत्यक्ष मार्ग-दर्शन कराती है योग-बुद्धि। सांख्य-बुद्धि योगबुद्धि की बुनियाद जैसी है। बुनियाद के बिना घर नहीं बन सकता, बिना घर के बुनियाद बेकार है। दियासलाई में आग अव्यक्त रूप में रहती है। दियासलाई रगड़ने से वह प्रकट होती है। अव्यक्त बिजली का कार्य सूक्ष्म-बुद्धि ही जान सकती है। वही जब व्यक्त हो जाती है तो उसका सामर्थ्य हर किसीको दिखाई देता है। सांख्य-बुद्धि व योगबुद्धि का पारस्परिक संबंध ऐसा ही है।

३. योग-बुद्धि की आखिरी मंजिल—स्थिर समाधि, अतएव स्थितप्रज्ञता।

योग-बुद्धि का पहला स्वरूप है कर्त्तव्य-निश्चय। कर्त्तव्य-निश्चय हुए बिना साधना आरंभ ही नहीं होती। निश्चय के बाद एकाग्रता, अर्थात् साधना में तन्मयता, फल पर ध्यान न देते हुए साधना में डूब जाने की वृत्ति, साधनैकशरणता, अथवा साधन-निष्ठा। यह दूसरी मंजिल है। उसके आगे की मंजिल है चित्त की निर्विकार दशा अथवा समता अतएव समाधि। वही जब स्थिर, अचल हो जाती है, किसी भी झोंके से जब डगमगाती नहीं है तो स्थितप्रज्ञावस्था प्राप्त होती है। जिसपर विकारों की, विचारों की, बल्कि वेदवचनों की भी सत्ता बाकी नहीं रही है, जिसकी समाधि अचल है, स्थिर हो गई है, वह स्थितप्रज्ञ है। इस तरह योग-बुद्धि की ये चार मंजिलें हैं—

(१) साधन-निश्चय (२) फल-निरपेक्ष एकाग्रता (३) समता अथवा समाधि और (४) स्थिर समाधि अखण्ड, निश्चल और सहज। यही स्थित-प्रज्ञावस्था है।

४. तद्विषयक जिज्ञासा।

भगवान् के इस विवेचन से कि योग-बुद्धि का अन्तिम परिपाक स्थिर समाधि में, स्थितप्रज्ञता में होता है, अर्जुन के हाथ प्रश्न-बीज लगा और उन्हीं शब्दों को पकड़ कर, यह जानने के लिए कि स्थितप्रज्ञ कैसा होता है, अर्जुन ने प्रश्न किया—

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्॥

ऐसे स्थितप्रज्ञ का लक्षण क्या है? वह कैसे बोलता है, कैसे रहता है, कैसे फिरता है, यह सब मुझे बताइए। इसके उत्तर में भगवान् ने स्थितप्रज्ञ के लक्षण बताये हैं जो कि हमारी चर्चा के विषय हैं।

(२)

५. समाधि दुहेरी: वृत्तिपरक व स्थितिपरक।

भगवान् के विवेचन को समझने के पहले यहां 'समाधि' शब्द को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए, क्योंकि यह शब्द बहुत भ्रमोत्पादक है। समाधि का आमतौर पर अर्थ किया जाता है—ध्यान-समाधि। यदि यह बात हो कि समाधि में होने का अर्थ यह है कि जिस बात का वह चिन्तन कर रहा है उसके अलावा उसे दूसरा कोई भी संवेदन नहीं होता है तो फिर अर्जुन का यह प्रश्न ही उड़ जाता है कि समाधिस्थ पुरुष बोलता कैसे है, चलता कैसे है, फिरता कैसे है? इस कठिनाई की ओर ध्यान जाने से कुछ टीकाकारों ने स्थितप्रज्ञ-दशा के दो विभाग कर दिये हैं—(१) समाधि में रहते हुए

स्थितप्रज्ञ कैसे बर्तता है और (२) समाधि में न रहते हुए कैसे बर्तता है-इस तरह दुहेरा विवेचन किया है। इस विवेचन में कल्पना तो है; परन्तु उसमें विचार-दोष है। इसमें इस बात का ज्ञान नहीं है कि गीता-प्रतिपादित इस जगह की समाधि भिन्न प्रकार की है। चढ़ने व उतरने वाली समाधि ध्यान-समाधि है। स्थितप्रज्ञ की समाधि इससे भिन्न है। वह ज्ञान-समाधि है। वह न चढ़ती है न उतरती है। "नैनां प्राप्य विमुह्यति" इस तरह उसका वर्णन किया गया है। अर्थात् वह एक स्थिति है, वृत्ति नहीं। ध्यान-समाधि एक वृत्ति है। चार-चार दिन टिक जाने पर भी उसके उतरने की अपेक्षा रहती है। वैसी यह समाधि नहीं है।

६. स्थितप्रज्ञ की समाधि वृत्ति नहीं है।

स्थितप्रज्ञ की समाधि कोई वृत्ति नहीं है, बल्कि वह निवृत्ति है। 'निवृत्ति' शब्द से हमारे लोग घबराते हैं। वे कहते हैं-'यह तो खामोश होकर बैठ जाना है'। परन्तु वह ठीक नहीं है। खामोश बैठना भी आखिर एक वृत्ति ही है। स्थितप्रज्ञ में ऐसी वृत्ति भी नहीं होती। वह सब तरह से निवृत्त है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह ध्यान नहीं करेगा। किसी सेवा-कार्य का चिन्तन करने के लिए अथवा फुरसत के समय में वह कुछ समय ध्यानादि करेगा। परन्तु वह उसका लक्षण नहीं है। उसका लक्षण तो है स्थिरबुद्धि। कर्मयोग जैसे एक उपयोगी साधन है, वैसे ही ध्यान भी है। परन्तु कर्मयोग की तरह ध्यान भी स्थितप्रज्ञ की स्थिति नहीं है।

७. इस विषय में गीता व योगसूत्रों की एकवाक्यता।

पतंजलि के योग-शास्त्र की बदौलत 'समाधि' शब्द का अर्थ 'ध्यान-समाधि' रूढ़ हो गया है! परन्तु पतञ्जलि ने भी

ध्यान-समाधि को अन्तिम स्थिति नहीं माना है! पतञ्जलि के सूत्र सुव्यवस्थित व अनुभव पर आधारित शास्त्र हैं। उनके कुल १९५ सूत्रों में पहले तीन सूत्र सारभूत हैं। ब्रह्मसूत्र में जैसी चतुःसूत्री, वैसी ही योग-सूत्र में यह त्रिसूत्री है—(१) अथ योगानुशासनम् (२) योगश्चित्तवृत्ति-निरोधः (३) तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्। इन तीन सूत्रों में सारा शास्त्र थोड़े में समाप्त हो गया है। परन्तु इनमें समाधि का तो कहीं नाम भी नहीं आया है। प्राप्तव्य तो है योग और 'चित्तवृत्ति-निरोध' उसकी व्याख्या है। समाधि अर्थात् ध्यान-समाधि भी एक वृत्ति ही है और उसका उपयोग वृत्ति-निरोध-रूपी योग की लब्धि के लिए शिरोमणि साधन के तौर पर पतञ्जलि ने बताया है। 'श्रद्धा-वीर्य-स्मृति-समाधि-प्रज्ञा-पूर्वकः' यह उनकी योग पर चढ़ने की सीढ़ी है। शुरू में श्रद्धा, उससे वीर्य अर्थात् उत्साह, तत्पूर्वक स्मृति अर्थात् आत्म-स्मरण, तत्परिपाक तन्मयतारूपी ध्यान-समाधि, उससे प्रज्ञा, और प्रज्ञा स्थिर हुई कि वही योग है। इन सीढ़ियों से योग-लाभ होता है, ऐसा उन्होंने स्पष्ट कहा है। अर्थात् योग की प्राप्ति के लिए समाधि के बाद उन्होंने प्रज्ञा बताई है। यह 'प्रज्ञा' शब्द पतञ्जलि ने गीता से ही लिया है। अर्जुन के प्रश्न से पूर्व के श्लोक में भगवान् ने कहा है कि समाधि में बुद्धि के अचल हो जाने पर तुझे योग की प्राप्ति होगी। 'योग' ही पतञ्जलि का अन्तिम शब्द है। उसका साधन उन्होंने प्रज्ञा बताया है और प्रज्ञा-लब्धि का साधन समाधि को सूचित किया है। समाधि का ध्यान-स्वरूप जाकर जब उसे सदा की सहज स्थिति का स्वरूप प्राप्त होता है तब वह प्रज्ञा कहलाती है। इस तरह पतञ्जलि के सूत्रों व गीताकृत विवेचन में समन्वय है।

८. 'स्थितप्रज्ञ' में कम्प व वक्रता नहीं।

स्थितप्रज्ञ की कल्पना में बुद्धिवाद की पराकाष्ठा हो गई है। बुद्धि, खालिस बुद्धि, को बोध का साधन माना गया है। रागद्वेषादि विकारों से अलिप्त बुद्धि ज्ञान का वास्तविक साधन हो सकती है! हम कहते हैं कि फलाँ बात मेरी बुद्धि को नहीं जंचती। गीता कहती है—'मेरी बुद्धि को' मत कहो। 'मेरी' विशेषण को छोड़कर केवल खालिस बुद्धि क्या कहती है, यह देखो। मेरेपन में अहंकार है, विकार है। संस्कारों की गुलामी है, परिस्थिति का बन्धन है। तू 'मद्‌बुद्धिवादी' है या बुद्धिवादी? जब बुद्धि विकार-रहित हो जाती है, सब उपाधियों से अलग हो जाती है तो वह स्थित होती है! "स्थित होती है", का मतलब सीधी तनकर खड़ी रहती है, डगमगाती नहीं। उसमें कम्प नहीं रहता। 'सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते' उसे निष्कंप योग प्राप्त होता है—ऐसा जो आगे दसवें अध्याय में कहा है उसका अर्थ यही है। बुद्धि में जरा-सा भी कम्प या डगमगाहट, हिचकिचाहट, घबराहट, अनिश्चय बाकी न रहना चाहिए। तभी वह बुद्धि काम देगी और तभी उसे बुद्धि कहेंगे। 'स्थित' शब्द का दूसरा अर्थ है 'सरल'। बुद्धि बिल्कुल सरल होनी चाहिए। उसमें जरा भी टेढ़ापन न होना चाहिए। चरखे के तकुवे में, महीन सूत कातते वक्त, जरा भी टेढ़ापन नहीं चल सकता। बिल्कुल सीधे, सरल होने पर ही वह काम देता है, वही हाल बुद्धि का है। चरखे का सरल-सीधा तकुवा स्थित-प्रज्ञ को बुद्धि के लिए उत्कृष्ट उपमा है। सीधे तकुए को अंग्रेजी में 'ट्रू' कहते हैं। इस शब्द में बड़ी खूबी है। जिस तकुए में जरा भी वक्रता न हो उसे ट्रू अर्थात् अचूक कहते हैं। इसी तरह बुद्धि ट्रू अर्थात् अचूक होनी चाहिए।

९. कम्प व वक्रता का अधिक विश्लेषण ।

कम्प व वक्रता इन दोषों का थोड़ा पृथक्करण कर लेना चाहिए। वस्तुतः ये दोनों मिलकर एक ही दोष है। चरखे के तकुए से यह बात समझ में आ जाती है। जो तकुआ टेढ़ा होता है, वही काँपता है। यही बात बुद्धि की है। सरल-सीधी बुद्धि कभी काँपेगी नहीं। इस तरह कम्प व वक्रता दोनों के एक-रूप होने पर भी विचार की दृष्टि से उनका पृथक्-पृथक् अर्थ ग्रहण करना चाहिए। सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो 'कम्प' मुख्यतः बुद्धि का व वक्रता मन का दोष है। मन एक तरह से बुद्धि का ही भाग है। तो भी विचार की सुविधा के लिये उसे बुद्धि से अलग कर लिया जाता है। छोटे बच्चे का मन बिल्कुल सरल होता है, अतः वह अतिशय वेग से ज्ञान ग्रहण कर सकता है। इसलिए ज्ञान दृष्टि से ऋजुता सबसे महत्त्वपूर्ण गुण समझना चाहिए। बिना ऋजुता के निश्चित व निष्कम्प ज्ञान प्राप्त नहीं होगा। अर्जुन शब्द का अर्थ भी दरअस्ल 'ऋजु बुद्धि वाला' है।

१०. बुद्धि व प्रज्ञा का भेद ।

गीता का 'प्रज्ञा' शब्द विशेष अर्थ का द्योतक है। 'बुद्धि' शब्द सामान्य है। बुद्धि मनुष्य के मनोविकारों के अनुसार बदलने-पलटने वाली होती है। मनुष्य की मानसिक कल्पनाओं के रंग बुद्धि पर चढ़ते हैं। यह रंगीन बुद्धि अचूक निर्णय नहीं कर सकती। जिस बुद्धि पर मानसिक कल्पनाओं का, विकारों का, पसंदगी-नापसंदगी का, वृत्तियों का रंग नहीं चढ़ता, जो केवल ज्ञान का कार्य करती है, वही प्रज्ञा है। प्रज्ञा तटस्थ रहती है। वह ठीक वस्तुस्वरूप पर लक्ष्य रखकर निर्णय दिया करती है। जहाँ बुद्धि पर रंग चढ़ जाता है तो एक ही बुद्धि की अनेक बुद्धियाँ बन जाती हैं। दया का रंग चढ़ जाने पर दया-

बुद्धि, द्वेष का रंग चढ़ जाने पर द्वेषबुद्धि। इस प्रकार अनेक बुद्धियाँ मनुष्य को चारों ओर खींचने का, त्रस्त करने का, व्याकुल कर देने का, जर्जर करने का काम अलबत्ता करती रहती हैं। ऐसी हजार बुद्धियाँ मार्गदर्शन के काम में बेकार होती हैं। शुद्ध-बुद्धि अर्थात् प्रज्ञा ही ठीक निर्णय देती है, क्योंकि उसका अपना कोई रंग नहीं होता। वह थर्मामीटर की तरह होती है। थर्मामीटर को खुद बुखार नहीं आया होता। इसीसे वह दूसरों के ताप का मापक हो सकता है।

११. शरीर-शक्ति से बुद्धि-शक्ति की विशेषता।

बुद्धि किसीके पास कम हो या किसी के पास ज्यादा, इसका महत्त्व नहीं। महत्त्व है स्वच्छ बुद्धि का। आग की एक छोटी-सी भी चिनगारी हो तो वह कार्यकारी हो सकती है। वह कपास के सारे ढेर को जला सकती है। इसके विपरीत कोरा कोयला बड़ा-सा होने पर भी वह उसमें दब जाता है। प्रश्न बुद्धि के कम-या-ज्यादा होने का नहीं है। खालिस बुद्धि की एक छोटी-सी चिनगारी, एक छोटी-सी ज्योति हो तो भी काफी है। बुद्धि की शक्ति की यही खूबी है। परन्तु शारीरिक शक्ति की बात ऐसी नहीं है। कोई सींकिया पहलवान इस जन्म में गामा हो सकेगा या नहीं, इस बात में संदेह हो सकता है; किसी अल्पबुद्धि मनुष्य के लिए राष्ट्र-कार्य-संचालन के योग्य नेतृत्व साधना सम्भवनीय नहीं, परन्तु बिल्कुल अल्पबुद्धि व अशिक्षित मनुष्य भी इस जन्म में स्थितप्रज्ञ अवश्य हो सकता है। उसके लिये गठरी भर बुद्धि की जरूरत नहीं है। प्रज्ञा की एक चिनगारी ही बस होती है। भारी-भरकम बुद्धि चाहे कितने ही संसार के काम-काज व उथलापुथल करती रहे, परन्तु त्रिभुवन को खाक करने का सामर्थ्य तो सिर्फ प्रज्ञा की चिनगारी में ही है।

दूसरा व्याख्यान

(१)

१२. समाधि का कुछ और विवेचन।

अर्जुन का प्रश्न हमारे सामने आया। प्रज्ञा किसे कहते हैं, समाधि क्या है, इसका भी हमने विचार किया। प्रज्ञा का अर्थ सामान्य बुद्धि नहीं; बल्कि वह बुद्धि जिसका झुकाव केवल निर्णय की ओर होता है। यह प्रज्ञा 'स्थित' अर्थात् सीधी खड़ी रहनी चाहिए। 'सीधी खड़ी' का मतलब है निश्चित व सरल। हमने यह भी देख लिया कि समाधि का मतलब ध्यान-समाधि से नहीं है। किन्तु यहां 'समाधि' शब्द का थोड़ा और भी विवेचन करना उपयोगी होगा। 'समाधि' शब्द में 'सम्' और 'आ' ये उपसर्ग व 'धा' धातु है। 'समाधान' शब्द की व्युत्पत्ति भी यही है। चित्त के समाधान की स्थिति ही समाधि है। समाधान कहते हैं, सम-तुलन' को। जब तराजू के दोनों पलड़े एक-सीध में हों तो कहते हैं तराजू समतोल है, तराजू का समाधान है। तराजू की डण्डी की तरह चित्त की स्थिति समतोल, अचल व शांत हो जाय तो उसका समाधान हो गया। यह समाधि सदा टिकती है। कभी भंग नहीं पाती। आगे छठे अध्याय में इस स्थिति की उपमा बिल्कुल निर्वात स्थान में जलते हुए दीपक से दी गई है। इसी को दीपनिर्वाण कहते हैं। 'दीप-निर्वाण' का अर्थ करना चाहिए—

दीपक की एक-सी अडोल लौ उठती रहना। 'दीपक का बुझ जाना' ऐसा अर्थ करना ठीक नहीं है। बुझ जाने के बाद की शान्ति, शरीर के रहते हुए, प्राप्त नहीं हो सकती। समाधि का मतलब है चित्त की ऐसी शान्त स्थिति जो इसी देह में—जीवन में अनुभव की जा सके और जो कभी चलित न हो। इस तरह अर्जुन के प्रश्न का उत्तर इस प्रश्न के 'समाधि' शब्द से ही सूचित किया जा रहा है और वही अब भगवान् एक श्लोक में व्याख्या करके बता रहे हैं।

१३. स्थितप्रज्ञ की समाधि की निषेधक और विधायक मिलाकर पूर्ण व्याख्या।

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥

यहां समाधि की शास्त्रीय व्याख्या की जा रही है। 'उच्यते' शब्द यहां व्याख्या का द्योतक है, ऐसा समझना चाहिए। इस श्लोक की व्याख्या यथार्थ और सम्पूर्ण है, अर्थात् उसका दुहेरा स्वरूप है—निषेधक व विधायक। इस तरह दुहेरी व्याख्या करने पर ही वह पूर्ण होती है। जैसे अहिंसा शब्द को लीजिए। 'हिंसा न करनी चाहिए' यह उसका निषेधक अर्थ हुआ। 'प्रेम करना चाहिए' यह विधायक हुआ। दोनों को मिलाकर अहिंसा की पूर्ण व्याख्या होगी। "प्रजहाति यदा कामान्" यह निषेधक लक्षण और "आत्मन्येवात्मनातुष्टः" यह विधायक स्वरूप हुआ। यह उभयविध लक्षण सुनिश्चित और सूक्ष्म भाषा में किया गया है।

१४. निषेधक व्याख्या : निःशेष कामना-त्याग।

लक्षण यहां बताया गया है। 'मन' कामनाओं से बना हुआ है। 'ऐसा मन ही न रहे' यह इसका अर्थ हुआ। किसी एक ज्योतिषी की नजर मेरे हाथ पर पड़ गई। उसने कहा "तुम्हारे हाथ में तो हृदय की रेखा ही नहीं दिखाई देती।" मैंने कहा—"ऐसा हो तो फिर मुझे भगवान् ही मिल गया"। मेरी दृष्टि से मनुष्य को केवल बुद्धि ही होनी चाहिये, मन का न होना ही अच्छा है। मन को बुद्धि में घुल-मिल जाना चाहिये। मन का अर्थ है संकल्प-विकल्प। मन है कामनाओं की गठरी। संकल्प-विकल्प या कामनाएं सब ऐसे होने चाहिएं जो बुद्धि की प्रेरणा से चलें। मन और बुद्धि में अनबन न होनी चाहिए—खींचातानी न होनी चाहिए। बस, बुद्धि कहे व मन करे। निर्णय करना काम है बुद्धि का। बुद्धि कानून बनाने वाला महकमा है। मन उस-पर अमल करने वाला महकमा। उसे बुद्धि के क्षेत्र में बिल्कुल दखल न देना चाहिए। जिसका काम वही करे। जीभ इतना ही देखे कि लड्डू मीठा लगता है या कडुवा, वह खाने के योग्य है या अयोग्य। लड्डू कितने खावें, यह तय करना उसका काम नहीं। वह इसमें फिजूल ही टांग अड़ाने का साहस न करे। इसी तरह मन को बुद्धि के अनुसार चलना चाहिए। वह धीरे-धीरे बुद्धि में लीन हो जाय। मन-रूपी कामनाओं की गठरी में से यदि एक-एक चिंधी निकाल डालें तो फिर खतम हुई वह गठरी। यों 'कहिए' कि मन घुल गया, मिल गया, विलीन हो गया, बुद्धि से एक-रूप, एक-रस, एक-जीव हो गया। यही वास्तविक मनोनाश है। मनोनाश का अर्थ 'मन की शक्ति का नाश' नहीं है। मनोनाश का अर्थ है कि मन बुद्धि का अनुसरण करे। बुद्धि के निर्णय के अनुसार बिना चूं-चपड़ किये चले। अमल करने की मन की शक्ति को नष्ट करने की जरूरत नहीं है। उस शक्ति को तो कायम रखना है। किन्तु हाँ, मन की कामनाओं

को समूल नष्ट कर देना है। इस तरह मन की सब कामनाओं का सम्पूर्णतः त्याग करना स्थितप्रज्ञ की व्याख्या का निषेधात्मक अंग हुआ।

१५. विधायक व्याख्या: आत्मदर्शन।

अब व्याख्या के विधायक अंग का विचार करें। "आत्मन्येवात्मनातुष्टः" यह विधायक लक्षण है। स्थितप्रज्ञ अपने आत्मा में ही सन्तुष्ट रहता है। बाहर के दिखावे की अपेक्षा वह भीतरी दृश्य से ही तृप्त होता है। वस्तुतः बाहरी दृश्यों से यह भीतरी दर्शन ही अधिक सुन्दर व भव्य होता है। कवि जिस दृश्य का वर्णन अपने काव्य में करता है उस प्रत्यक्ष दृश्य की अपेक्षा भी उसका वह वर्णन अधिक मधुर होता है। उसका कारण यही है कि उसका वह आदर्शमय अन्तरंग बाह्य सृष्टि की अपेक्षा अधिक रमणीय होता है। वही रमणीय आत्मदर्शन इस विधायक लक्षण में सूचित किया गया है। इन दोनों लक्षणों को मिलाकर स्थितप्रज्ञ का सम्पूर्ण दर्शन होता है। वह कामनाओं को त्याग करता है और सन्तोष का झरना तो उसके भीतर ही रहता है। उसके चित्त में यह बात अंकित रहती है कि कामनाओं में आनन्द नहीं है। और यह विचार करने जैसा प्रश्न है भी कि सचमुच कामनाओं में आनन्द या समाधान है भी ? अनुभव नहीं बताता कि कामनाओं से शान्ति, शीतलता, समाधान प्राप्त होता है। बल्कि उलटा उनसे मन एक-सा छटपटाता रहता है। छटपटाहट मनुष्य को बेचैन कर देती है, आग लगा देती है। अतः यह डर रखने की बिल्कुल जरूरत नहीं है कि कामना के चले जाने से शीतलता कम हो जायगी। कामना में जो समाधान मालूम होता है वह कोरा भास ही है। आनन्द तो कामना

की तृप्ति में अतएव दूसरे शब्दों में उसके अभाव में होता है। कामना पूर्ण होने का अर्थ है एक तरह से उसका शमन होना, नष्ट होना। विचार करने पर यह बात ध्यान में आ जायगी कि आनन्द का स्थान कामना नहीं बल्कि उससे मुक्ति है। इसीलिए यहां कामना का सम्पूर्ण त्याग और आत्मा में ही अर्थात् अपने स्वरूप में ही सन्तोष, ऐसा दुहेरा लक्षण बताया गया है।

१६. आत्मदर्शन व कामना-त्याग ये परस्पर कार्य-कारण हैं।

यहां जो दुहेरा लक्षण बताया गया वह केवल विधायक व निषेधक ही नहीं, बल्कि उसमें एक दूसरे प्रकार का भी दुहरा अर्थ निकलता है। इसमें पहला प्रारम्भिक व दूसरा प्रगत स्वरूप का है, ऐसा भी कह सकते हैं। पहले तो तमाम कामनाओं को छोड़ देना यह साधनरूप हुआ। दूसरा लक्षण कामनात्याग से प्राप्त स्थिति का द्योतक है। अतः पहला है साधन-रूप प्राथमिक, दूसरा है उसके फलित-रूप प्रगत। "बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्" बाह्य विषयों से चित्त जब अलग हो जाता है तब यह पता चलता है कि अन्दर कैसा आनन्द भरा है; इस वाक्य में गीता ने यह क्रम बताया है। इसके विपरीत स्थितप्रज्ञ के लक्षणों में ही आगे चलकर ऐसा भी कहा है कि जैसे-जैसे आत्मदर्शन होता जाता है वैसे-वैसे कामना का रस सूखता जाता है। इसका यह अर्थ हुआ कि आत्मदर्शन साधन है और कामनानाश उसका फल। इस दृष्टि से "आत्मन्येवात्मनातुष्टः" यह मूलभूत लक्षण माना जा सकेगा। आत्मतृप्ति दिखाई नहीं देती, कामनाओं का त्याग दीख जाता है। किसी मनुष्य में कामना का न दिखाई देना उसका प्रकट लक्षण है। आत्म-सन्तोप का वह चिह्न व परिणाम है। अतः उसे फल-स्वरूपी

कह सकते हैं। परन्तु पहले आत्मदर्शन या पहले कामना-त्याग ऐसा विवाद करना ही व्यर्थ है। 'पहले बीज या पहले पेड़' जैसा ही यह विवाद है। आत्मदर्शन व कामना-त्याग एक दूसरे के कार्य-कारण हैं।

(२)

१७. कामना-त्याग की चार प्रक्रियाएं।

यहाँ सब कामनाओं का निःशेष त्याग बताया गया है। अर्थात् कामना को कांटे की तरह माना गया है। काँटा चाहे सोने का भी हो, वह चुभेगा ही। छुरी सोने की होने पर भी प्राणहरण करेगी ही। अतः गीता का यह सिद्धांत है कि शुरू से अखीर तक सब तरह की कामनाओं को एकदम निकाल डालना चाहिए। परन्तु गीता के ही आधार पर यह कहा जाता है कि कुछ कामनाएं रहने देने में गीता को आपत्ति नहीं है। "धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ" यह वचन सबूत में पेश किया जाता है। तो इस प्रश्न का विचार कर लेना चाहिए। सच पूछिए तो इन दोनों वचनों में वास्तविक कोई विरोध ही नहीं है। एक वाक्य में उस मुकाम का निर्देश किया गया है जहाँ हमें पहुँचना है। दूसरे वाक्य में यह सुझाया है कि कामनाओं का त्याग कैसे करना चाहिए। कामना-नाश की प्रक्रिया के साधारणतः चार प्रकार हैं— (१) व्यापक प्रक्रिया (२) एकाग्र प्रक्रिया (३) सूक्ष्म प्रक्रिया और (४) विशुद्ध प्रक्रिया।

१८. कर्मयोग की व्यापक प्रक्रिया।

(१) व्यापक प्रक्रिया। कामना व्यक्तिगत होती है। उसे सामाजिक रूप देना कर्मयोग की कामना-नाश-सम्बन्धी एक तरकीब है। फर्ज कीजिए कि कोई देहाती सज्जन अपने लड़के

को पढ़ाना चाहते हैं। वह अपने गाँव में एक पाठशाला ही कायम कर लें। अपने लड़के की पढ़ाई के इन्तजाम के साथ-ही-साथ औरों के लड़कों की भी पढ़ाई की सुविधा कर दें। इस तरह अपनी कामना को सामाजिक रूप दें। पुरानी भाषा में एक दूसरा उदाहरण दूं। किसीको मांस खाने की इच्छा हुई तो उन्हें कहा कि मांस ही खाना हो तो यज्ञ करो। यज्ञ करने से दूसरों को खिलाकर फिर यज्ञशिष्ट तुम खा लोगे। घर में स्त्रियाँ ऐसा ही करती हैं। मिठाई खाने की तवीयत सभीकी होती है तो घर में मिठाई वना ली जाती है। स्त्रियाँ पहले सवको पेट भर कर खिला देती हैं, फिर बची-खुची आप खा लेती हैं। सच पूछिए तो उनके हिस्से में मिहनत ही आती है। इस तरह स्त्रियाँ अपनी कामना को कुटुम्ब-व्यापी वना लेती हैं। यह कर्मयोग की कामना-नाश-सम्वन्धी युक्ति है। इस प्रक्रिया की मन्शा यह है कि व्यक्तिगत वासना को सामाजिक रूप दें जिससे वह व्यापक होते-होते लोप हो जाय।

१६. ध्यान-योग की एकाग्र प्रक्रिया।

(२) एकाग्र प्रक्रिया। अपने मन की अनेक वासनाओं में से छाँटकर यह देखिए कि सवसे प्रवल वासना कौन-सी है। अव शेष वासनाओं को छोड़ दीजिए और उसी एक वासना का ध्यान कीजिए, उसीमें अपने चित्त को एकाग्र कर दीजिए। मान लीजिए कि किसी विद्यार्थी के मन में अनेक वासनाओं के साथ वेदाभ्यास की भी इच्छा है, परन्तु वह अन्य वास-नाओं से ज्यादा वलवती है। वह गुरुगृह में जाकर रहेगा, जैसा मिलेगा वैसा खाना खा-पीकर अध्ययन करेगा, जिससे उसकी मीठा खाने की वासना अपने आप मर जायगी। इस

तरह अपनी मुख्य वासना को प्रधानता देकर उसके अनुसार अपना सारा जीवन बनावें, यह ध्यानयोग की तरकीब है। जिन विद्यार्थियों की तीव्र इच्छा विद्याध्ययन की है उनमें हम यह बात पाते हैं। इतर वासनाओं का निग्रह कर के वे विद्यार्जन के लिए अनेक कष्ट उठाते हैं। "सुखार्थिनः कुतो विद्या, कुतो विद्यार्थिनः सुखम्" यह व्यासदेव का वचन ही है। इसके विपरीत हम तो उलटा विज्ञापन देते हैं कि हमारे छात्रालय में सुख-सुविधा व विद्या दोनों की व्यवस्था है। यह भाषा ही गलत है। सुख की ओर ध्यान दिया तो विद्या में मन लगेगा ही नहीं। अतः अपनी वासनाओं की छानबीन करके जो सब में प्रबल हो उसीपर सारी शक्ति एकाग्र कीजिए। आज के भौतिक प्रयोगकर्ता वैज्ञानिक ऐसा ही करते हैं। अपना सारा ध्यान व बल अपने प्रयोग में लगाते हैं। यह हुआ ध्यान-योग। इतर वासनाओं का निरास करके एक ही वासना पर केन्द्रित हों, फिर उसे भी छोड़ दें। एकाग्रता के सध जाने पर फिर उस वासना का भी त्याग कर छुट्टी पावें।

२०. ज्ञानयोग की सूक्ष्म प्रक्रिया।

(२) सूक्ष्म प्रक्रिया। इस प्रक्रिया में स्थूल वासना को छोड़कर सूक्ष्म को ग्रहण करने की तरकीब बताई गई है। यदि सज-धज का शौक है तो शरीर को सजाने की बनिस्बत अन्तरंग को सजाओ, अपनी बुद्धि को सजाओ, चतुर बनो। नवीन विद्या प्राप्त करो, कला सीखो। शरीर के स्थूल श्रृङ्गार की अपेक्षा यह बौद्धिक श्रृङ्गार सूक्ष्म है। इससे भी अधिक सूक्ष्म श्रृङ्गार की विधि है हृदय को शुभ गुणों से मण्डित करना। शरीर को सुगन्धित करने वाले इत्र की अपेक्षा बुद्धि-चातुर्य अधिक सुगन्धित इत्र है और उससे भी अधिक सुगन्धित है

हृदय की शुभ-गुण-सम्पत्ति। नामदेव ने एक अभंग में इस विषय का बड़ा बढ़िया वर्णन किया है कि विठाई-माँ ने मुझे कैसा सजाया है। जिस प्रकार माँ अपने बच्चे के बाहरी अङ्गों का सिंगार करती है ठीक वैसा ही अन्तरंग-शृङ्गार का वर्णन उसमें है। बाह्य शृङ्गार की अपेक्षा अन्तःशृङ्गार से जीवन की शोभा विशेष बढ़ेगी। शोभा के स्थूल रूप को छोड़िए व सूक्ष्म रूप को पकड़िए। आनन्द कामना में नहीं, कामना-तृप्ति में है। कामना यदि स्थूल हो तो उसकी तृप्ति कठिन होती है; क्योंकि तब बाहरी साधन जुटाना पड़ते हैं। वही यदि सूक्ष्म हो तो फिर तृप्ति में बाधा कम होती है; क्योंकि अपने भीतर के साधनों से ही वह तृप्त हो जाती है। इस तरह कामना के अन्तर्मुख व सूक्ष्म होते-होते फिर वह बिल्कुल नष्ट हो सकती है, या होनी चाहिए। यह ज्ञान-योग की तरकीब है।

२१. भक्ति-योग की विशुद्ध प्रक्रिया।

(४) विशुद्ध प्रक्रिया। इस प्रक्रिया के अनुसार हम वासना में व्यक्तिगत व सामाजिक, गौण व मुख्य, अथवा स्थूल व सूक्ष्म ऐसा भेद नहीं करते। शुभ वासना और अशुभ वासना का भेद करते हैं। अच्छी वासनाओं को रखिए, बुरी को छोड़ दीजिए। यदि मीठा खाने की इच्छा हुई तो मिठाई न खाके आम खा लीजिए। मिठाई से नुकसान हो सकता है और उससे रजोगुण भी बढ़ेगा। आम तन्दुरुस्ती के लिए अच्छा होता है और उससे सत्वगुण की भी वृद्धि होगी। इस प्रक्रिया में हम आरम्भ में ही वासना को मारने के लिये नहीं कहते। इतना ही कहते हैं कि अशुभ को छोड़ो व शुभ को पकड़ो। अब शुभ क्या व अशुभ क्या, इसका निर्णय व्यक्ति खुद अपनी बुद्धि से कर ले। जिसका जो मत वही उसके लिए प्रमाण। कुछ वासनाओं की

शुभाशुभता का निर्णय साइन्स अर्थात् विज्ञान की सहायता से किया जा सकेगा। कुछ वासनाओं के सम्बन्ध में यद्यपि विज्ञान की सहायता से ऐसा विवेक किया जा सका तो भी अन्त में शुभ क्या व अशुभ क्या, इसका निर्णय जिसका उसीको अपने विचार से ही करना पड़ेगा। अब अशुभ वासनाओं का त्याग व शुभ वासनाओं की पूर्ति करते-करते मन शुद्ध हो कर वासना ही उड़ जायगी। यह कामना-नाश की विशुद्ध प्रक्रिया है।

२२. विशुद्ध प्रक्रिया सब तरह से सुरक्षित।

इन चार प्रक्रियाओं में अन्त की विशुद्ध प्रक्रिया सबमें बिना खतरे की, अतः सबसे अच्छी है। और प्रायः भक्ति-योग ने उसे ही स्वीकार किया है। इतर प्रक्रियाओं में जैसे शक्ति है वैसे ही खतरा भी बहुत है। व्यापक प्रक्रिया में कहा गया है कि कामना सामाजिक बनाई जाय। परन्तु यदि वह कामना ही अशुभ हो तो? किसीको शराब ही पीने की इच्छा हुई तो इस प्रक्रिया के अनुसार उसे शराब पीने का सार्वजनिक क्लब खोलना चाहिए। परन्तु इससे उसका व समाज का भी अधःपात ही होगा। केवल सामाजिक बना देने से वासना शुद्ध होती हो सो बात नहीं। एकाग्र प्रक्रिया में भी यही खतरा है। जिस वासना पर चित्त की एकाग्रता करोगे वही यदि अशुभ हो तो सभी खतम हुआ। चित्त की एकाग्रता योग-शास्त्र का विषय है। उसमें पतञ्जलि ने ऐसा संकेत कर रखा है कि ध्यान-योग का आचरण यम-नियम-पूर्वक ही करना चाहिए। नहीं तो उससे अनर्थ हो जायगा। ध्यान-योग तारक होने के बजाय मारक हो रहेगा। सामाजिकता व एकाग्रता में शक्ति अवश्य है, परन्तु वह यदि ऊटपटांग हुई तो उससे मनुष्य उलटा राक्षस बन जायगा। सूक्ष्म प्रक्रिया भी सुरक्षित नहीं है। वासना सूक्ष्म होने पर

पवित्र ही होगी, यह नहीं कह सकते। किसीको काम-वासना ने घेर लिया और वह यदि अमूर्त काम का ही चिन्तन करने लगा तो कदाचित् वह अधिक ही भयानक हो जायगा। अतः भक्तियोग द्वारा अंगीकृत यह 'विशुद्ध-प्रक्रिया' सबमें सुरक्षित है। इसीलिए तुलसीदास ने कहा है "भगति सुतंत्र अवलम्ब न आना"। इतर साधनों का खतरा मिटाने के लिए उन्हें भक्तियोग के आधार की जरूरत होती है। परन्तु भक्ति को कोई अवलम्बन दरकार नहीं। इतर साधन शक्तिशाली हैं, पर साथ ही खतरे से भरे हुए भी हैं। एक ओर शक्ति है तो दूसरी ओर सुरक्षितता है। भक्ति व शक्ति में इस तरह भेद है। भक्ति के साथ यदि शक्ति का जोड़ न हो तो वह दुर्बल भले ही हो जाय, परन्तु अपवित्र व मारक न होगी। इसके उलटा यदि शक्ति के साथ भक्ति न हुई तो वह सर्वनाश ही कर डालेगी। भक्ति किसी भी दशा में अकल्याण न करेगी। अतः कामना-नाश की भक्ति-योग द्वारा मान्य विशुद्ध प्रक्रिया सब तरह से सुरक्षित व अनुकूल है। "धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि" वाक्य के द्वारा उसीको दर्शाया गया है।

तीसरा व्याख्यान

(१)

२३. स्थितप्रज्ञता के सुलभ साधन :

(अ) सुख-दुःखों को सह लो।

स्थितप्रज्ञ की एक परिपूर्ण व्याख्या हो गई। अब अगले तीन श्लोकों में इस व्याख्या का उत्तरोत्तर सुलभ विवरण किया गया है। इनमें पहले श्लोक में स्थितप्रज्ञ की व्याख्या का मानसशास्त्रीय विवरण है—

> दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
> वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥

व्याख्या-निदर्शक 'उच्यते' शब्द यद्यपि इसमें आ गया है, तथापि यहां व्याख्या की अपेक्षा नहीं है; क्योंकि व्याख्या तो पहले ही हो चुकी है। स्थितप्रज्ञ की शास्त्रीय व्याख्या में सब कामनाओं का समूल त्याग अपेक्षित है। परन्तु वह ऐसा सरल नहीं है। अतः अब इस श्लोक में स्थित-प्रज्ञ का अपेक्षाकृत सरल लक्षण बताया गया है। दुःख या अप्रिय प्राप्त हो तो उद्वेग न होने देना चाहिए। उद्वेग होने देने का अर्थ है घबरा जाना, ऊब जाना या परेशान हो जाना। इस शब्द में ही यह अर्थ रखा हुआ है। 'उत्' का अर्थ है ऊपर, 'वेग' के मानी हैं 'गति'। ऊपर चढ़ते हुए जैसे बैलों को आफत होती है, नाकों-

दम हो जाता है, वैसी हालत न होनी चाहिए। दुःख को धैर्य से सहना चाहिए, उसके सामने घुटने न टेकना चाहिए। दुःख की तरह सुख को भी सावधानी से सहना चाहिए। मनुष्य नहीं चाहता कि दुःख हो। अतः उससे वह भुलावे में नहीं आ सकता, उसे तो धीरज से सह लिया कि बस। परन्तु सुख तो मनुष्य चाहता है। इससे मन उसके भुलावे में आ सकता है। अतः सुख में खतरा है। सुख की लालसा का लगना सुख-संबंधी गलतफ़हमी का परिणाम है। अतः जब सुख आता हो तो सावधान होकर मन को रोक लेना चाहिए। दुःख आने पर धैर्य रखना चाहिए; सुख आने पर उसमें मन को लिप्त न होने देना चाहिए। उसे रोक रखना चाहिए। उतार पर बैल दौड़ने लगता है। इसी तरह सुख के समय मन की वृत्ति दौड़ लगाती है। अतः उसे रोक रखने की जरूरत है। यह काम उतना कठिन नहीं है। कामना-त्याग के हिसाब से बहुत ही सरल है। यहां कामना के दो रूप बताये गये हैं—सुख का वाञ्छनीय मालूम होना, व दुःख का अवाञ्छनीय लगना। इन दोनों का संयम यहां बताया गया है।

२४. (आ)वृत्ति न उठने दो।

कामना के जैसे दो प्रकार हैं वैसे तीन परिणाम होते हैं—(१) तृष्णा (२) क्रोध (३) भय। अनुकूल वेदना से तृष्णा उदय होती है। प्रतिकूल वेदना से क्रोध। भय भी क्रोध का ही, प्रतिकूल वेदना का ही, एक रूप है। परन्तु हमारे मन में जीवित रहने की एक विशेष आसक्ति रहती है, जिससे भय-वृत्ति क्रोध से भिन्न गिनी जाती है। हमारी जिजीविषा पर आघात होने से भीति उत्पन्न होती है। यह वृत्ति सभी प्राणियों में स्वरस-वाही अर्थात् रक्त में सनी हुई है। जीवनोच्छेद का प्रसंग

आते ही वह जाग्रत होती है। जालिम लोगों ने इस भय-वृत्ति से बहुत फायदा उठाया है। उन्होंने मनुष्यों को भय दिखा-कर ही गुलाम बनाया है। तोप, बन्दूक आदि शस्त्रास्त्रों की अपेक्षा उनकी सत्ता का वास्तविक आधार यह भय-वृत्ति ही है। अतः तृष्णा व क्रोध इन वृत्तियों को मिटाने के लिए जैसी स्वतन्त्र साधना करनी पड़ती है वैसे ही भय-वृत्ति को जीतने के लिए स्वतन्त्र साधना करना भी जरूरी है। तृष्णा, क्रोध व भय—इन तीनों वृत्तियों के नाश हो जाने पर प्रज्ञा स्थिर होती है। ये वृत्तियाँ बुद्धि पर आघात करती हैं, अतः उनके निरास का उपदेश यहां किया गया है। इस तरह इस श्लोक में स्थितप्रज्ञ की स्थिति का मानसशास्त्रीय विवेचन किया गया है। इसके आगे के श्लोक में यह बताया गया है कि प्रत्यक्ष कर्मयोग का आचरण करते हुए संयम कैसे साधना चाहिए।

२५. स्थितप्रज्ञता का सुलभतर साधन : वृत्तियों के साथ वह न जाओ।

> यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
> नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

"यः सर्वत्र अनभिस्नेहः" मन को कहीं भी लिप्त न होने देना चाहिए। मन को कहीं भी न तो लगाओ, न लिप्त होने दो, न टिकने दो या घर बनाने दो। मनुष्य का मन कहीं-न-कहीं तो लगता है। किसीका पुस्तक में तो किसीका खेत में रम रहता है। यहाँ यह कहा गया है कि उसे कहीं भी लिप्त मत होने दो। इससे पहले वाले श्लोक में कहा है कि बुरे या अशुभ का दुःख मत होने दो, अच्छे या शुभ से सुख मत होने दो। यहाँ उससे भी अधिक सुगम साधन बताया है। यह नहीं कहा कि अच्छा मिले तो सुख मत मानो; भले ही सुख मान लो,

इसमें हर्ज नहीं; पर उसमें अपने को भूल मत जाओ। हर्षित न हो उठो। फूल मत जाओ। तालियाँ मत पीटने लगो। उसका अभिनन्दन मत करो। लड़का पैदा हो तो अच्छा मालूम होगा, होने दो; परन्तु शकर मत बाँटो। शादी हुई तो अच्छा लगेगा। कोई हर्ज नहीं। पर बैंड-बाजा मत बजाओ। इतना ही यहाँ कहा है। इसी तरह बुरा प्राप्त हुआ तो बुरा लगा। हर्ज नहीं, लगने दो, पर मन में सन्ताप मत करो। वह इतना तीव्र न हो जाय कि बुद्धि को विकारों की आँच लगने लगे। तीव्र विकार बुद्धि पर आघात करते हैं। बुद्धि सही-सलामत रहनी चाहिए। चाणक्य का एक वचन है : मेरा सब कुछ चला जाय, पर बुद्धि कायम रहे।—"बुद्धिस्तु मागान् मम" बुद्धि सलामत रखो। कर्मयोगी प्रत्यक्ष व्यवहार में कैसा वर्ते, इसका यह विवरण हुआ। मनुष्य की वृत्ति में यदि थोड़ी भी गम्भीरता हो तो उसके लिए यह सहज सधने जैसा है। यदि बन्दर की तरह वृत्ति हो तो फिर संयम नहीं सधने का। बन्दर आनन्द से किलकिलाने लगते हैं, दुःख से किचकिचाते हैं। ऐसी वृत्ति न हो, थोड़ी गंभीरता हो तो यह कठिन न मालूम होगा।

२६. स्थितप्रज्ञता का सुलभतम साधन : इन्द्रियों का नियमन करो।

संयम को और भी सुलभ तथा स्पष्ट करने के लिये अगले श्लोक में कछुए का उदाहरण देकर इन्द्रिय-निग्रह बताया है।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

कछुआ अपने अवयवों को बटोर लेता है, उसी तरह अपनी इन्द्रियों को विषयों से समेट लो। यों कछुआ अपने तमाम अवयवों को फैलाकर चलता है, परन्तु

खतरा मालूम होते ही उन्हें सिकोड़ लेता है। उसी तरह जहाँ खतरा हो वहाँ से तुम अपनी इन्द्रियों को भीतर खींच लो। जहाँ उनका पारमार्थिक उपयोग होता हो वहाँ उन्हें छुट्टा रहने दो। यह साधन और भी सुगम है। जहाँ खतरा दीखे वहाँ पीछे हट जाओ। जहाँ खतरा न हो वहाँ आजाद छोड़ दिया। इससे ज्यादा सुगमता और क्या हो सकती है? यह तो पशु भी समझ सकता है। इसीसे कछुए का उदाहरण दिया है। जब कछुआ जैसा जानवर भी इस तरह वर्तता है तब आप-हम तो मनुष्य हैं, यह गीता की ध्वनि है।

(२)

२७. इन्द्रियनियमन वस्तुतः कठिन नहीं है।

परन्तु जो बात यहाँ सुगम बताई गई है वह भी हमें कठिन मालूम होती है। असल में इसका ताल्लुक आदत से है। छोटे बच्चे को यदि शुरुआत से ही ऐसा अभ्यास कराया जाय तो गीता उसका स्वभाव हो बन जायगी। बात सिर्फ अभ्यास-आदत की है। कहते हैं, गीता तो मनुष्य-स्वभाव के विरुद्ध चलने के लिए कहती है। बिल्कुल नहीं। छोटे बच्चे की नैसर्गिक रुचि शुद्ध ही रहती है। हम जबरदस्ती उसकी जीभ में अण्ट-शण्ट पदार्थों की रुचि उत्पन्न करते हैं। उसकी रुचि को विकृत व कृत्रिम बनाते हैं। गीता कहती है कि छोटे बच्चे को स्वभावतः जो अच्छा लगता है, व सुलभ है, वही तुम करो। हम छोटे बच्चों को कु-शिक्षा देकर पहले उनकी रुचि बिगाड़ देते हैं। अतः फिर उसे उलटी शिक्षा देकर सुधारना पड़ता है। पहले तो कुशिक्षा देकर इन्द्रियों को नखरीला बनाया जाता है, इससे फिर उन्हें काबू में रखना कठिन मालूम होता है। यदि शुरू से ही उन्हें अच्छी आदत डाली जाय तो इन्द्रिय-संयम

बड़ा सुलभ हो जाय । ज्ञानदेव कहते हैं "मेरी इन्द्रियों का स्वभाव ही ऐसा हो गया है कि जो न देखना चाहिए उसकी तरफ आँख ही नहीं जाती, जो सुनने योग्य नहीं है उसे कान सुनते ही नहीं" । यह बात कठिन क्यों लगनी चाहिए ? यदि यह मालूम हो जाय कि यहाँ आग है, तो क्या हाथ उस तरफ जायगा ? बल्कि यदि आग में हाथ डालने का ही अवसर आ जाय तो बहुत सोच-विचार के मन को कड़ा कर ही डालना होगा । इसी तरह हमारे मन को जहाँ निश्चय हो जाय कि यहाँ खतरा है तो उधर इन्द्रियाँ जायंगी ही नहीं । वास्तव में तो खतरे की जगह इन्द्रियों को ढीला छोड़ना ही कठिन मालूम होना चाहिए । परन्तु कुशिक्षा ने हमारी स्थिति इसके बिल्कुल विपरीत कर डाली है । जो कठिन व अस्वाभाविक है वही हमें सहज व सरल मालूम होता है । उसका गीता क्या करे ? गीता ने तो ऐसा एक साधन बता दिया है जो उसकी दृष्टि से एक बच्चे के लिए भी सहल है । इसमें कोई सन्देह नहीं कि समाज की अवस्था यदि स्वाभाविक हो तो उसमें इन्द्रिय-जय कठिन न मालूम होगा ।

२८. इन्द्रिय-नियमन के दो प्रकार : संयम व निग्रह ।

पर इन्द्रिय-जय की दो विधियाँ बताई जाती हैं—इन्द्रिय-संयम व इन्द्रिय-निग्रह । इन दो प्रकारों का थोड़ा विचार कर लें । इन्द्रिय-निग्रह कुछ समय के लिए होता है । इन्द्रिय-संयम सारे जीवन का तत्त्व है । जैसे—मान लीजिए, मुझे मीठा खाने का शौक है । मीठा खाना तो बुरा है नहीं । हाँ, मीठे का मोह अलबत्ते बुरा है । अतः मैं कुछ समय के लिए मीठा खाना बिल्कुल बन्द कर देता हूँ । इसमें मन्शा यह है कि अपने को अभ्यस्त करूं, आदत लगाऊं, अपनी रुचि का दमन करूं ।

इन्द्रियों को दान्त करने के लिए, काबू में लाने के लिए कुछ समय तक हम उनका निग्रह करते हैं। मीठा खाना ही तो गुनाह नहीं है। आरोग्य के लिए कुछ मीठा खाना आवश्यक भी हो सकता है। परन्तु मीठे के शौक को अपने वस में करने के लिए कुछ समय तक मैंने उसका निग्रह किया। उसके बाद में फिर मीठा खाने लगता हूँ। परन्तु संभल कर व तौल कर। इसे संयम कहेंगे। इसी तरह मौन का उदाहरण लीजिए। मौन कुछ काल तक करने का साधन है। मित-भाषण नित्य के लिए साधन है। इसी तरह उपवास नैमित्तिक साधन है। नियमित व निश्चित खान-पान रखना नित्य साधन है। मनुष्य की आजमाइश भी इसीमें है। गुजराती में एक मार्मिक कहावत है 'माणसनी परीक्षा खाटले ने पाटले'। पाट पर व खाट पर अर्थात् भोजन के समय व बीमारी के समय ही मनुष्य की परीक्षा होती है— भोजन व बीमारी ये ऐसे अवसर हैं जिनमें मनुष्य के स्वभाव के सभी दोष प्रकट हो जाते हैं। मनुष्य एक बार बेशुमार खा सकता है, या कभी बिल्कुल ही भूखा रह सकता है; परन्तु तौल कर उचित मात्रा में खाना नहीं सधता। दोनों सिरे सध जाते हैं, परन्तु मध्यम अवस्था नहीं सधती। इन्द्रियों को मध्य में रखना संयम है। जब कभी उसके लिए उन्हें दूसरे सिरे पर ले जाना पड़ता है, तब वह निग्रह हुआ। निग्रह का भी लाभ स्पष्ट ही है। परन्तु वह नित्य-धर्म नहीं है।

२६. उसका और अधिक विवरण।

हमने जो यह भेद किया है कि निग्रह प्रासंगिक है और संयम नित्य है, यह सिर्फ तारतम्य से उनके अन्दर-ही-अन्दर किया है, ऐसा समझना चाहिये; क्योंकि थोड़ा विचार करने से यह जाना जाता है कि निग्रह भी संयम की तरह नित्य

हो सकता है। हमने देखा कि उपवास प्रासंगिक व मिताहार नित्य है। परन्तु मान लीजिये कि किसी व्यक्ति ने रोज फलाँ वक्त ही खाने का नियम किया है—और नियम बनाना इष्ट भी होता है—अब बीच में ही यदि किसीने उसे कुछ खाने को दिया तो वह नहीं खावेगा। यह निग्रह हुआ। परन्तु यह साफ है कि वह प्रासंगिक नहीं, नित्य का है। यही बात मौन की है। मौन आमतौर पर प्रासंगिक तो होता है ; परन्तु वाणी का निग्रह करने के अवसर रोज आ सकते हैं। किसी मनुष्य ने कुछ कह दिया तो उसका उत्तर देने के बदले अपने बोलने के वेग को रोक लेना ही बहुत बार जरूरी हो जाता है। वाणी का यह ऐसा निग्रह रोज की बात ही हो गई। इसका यह अर्थ हुआ कि निग्रह व संयम का अभ्यास वस्तुतः रोज ही करना पड़ता है। उसमें जो हमने फर्क किया है वह केवल तारतम्य से। वास्तव में तो दोनों मूलतः एक ही हैं। निग्रह व संयम दोनों में एक वस्तु समान है—अपने पर अंकुश। सार यह कि संयम व निग्रह का सूक्ष्म भेद समझ कर उसे भूल जाना ही अच्छा है। परन्तु 'निग्रह' शब्द के सम्बन्ध में कुछ और सफाई करना जरूरी है। निग्रह में बलात्कार का भाव आता है या नहीं—ऐसा सन्देह होता है। परन्तु 'इन्द्रिय-निग्रह' शब्द में ऐसा बलात्कार नहीं सूचित किया गया है। शब्द को अर्थ का बोझ नहीं लगता। अतः वह अनेक अर्थों में यथाप्रसंग व्यवहृत होता है।

३०. इन्द्रिय-जय का गीता की दृष्टि में महत्त्व।

यहाँ स्थितप्रज्ञ का मुख्य लक्षण व उसके तीन विवरण समाप्त हुए। अगले दस श्लोकों में इस विवरण में से अन्त के क्रियात्मक सुलभ साधन का, इन्द्रिय-जय का, व्याख्यान

है। गीता ने इसे इतना महत्त्वपूर्ण समझा है कि अनेक अध्यायों में स्थान-स्थान पर उसका विवेचन किया है। तीसरे अध्याय में कर्मयोग का विवेचन कर चुकने के बाद 'इन्द्रिय-जय' पर एक स्वतन्त्र प्रकरण ही लिखा है। यहाँ इसके आगे अब इस विषय का विज्ञान और तत्त्वज्ञान दोनों बताना है। 'कैसे' का उत्तर विज्ञान देता है। 'क्यों' को तत्त्वज्ञान हल करता है। इन्द्रिय-निग्रह कैसे करें, व क्यों करें, अर्थात् प्रज्ञा की स्थिरता से उसका क्या सम्बंन्ध है, ये दोनों मीमांसाएं अब हम आगे करने वाले हैं।

चौथा व्याख्यान

(१)

३१. इन्द्रिय-जय के विज्ञान की प्रस्तावना।

जिन्हें स्थितप्रज्ञ के लक्षण कहना चाहिये, वे वस्तुतः पहले चार श्लोकों में ही पूरे हो गये। इसके बाद अब इन्द्रिय-निग्रह का विज्ञान व तत्वज्ञान समझना है। पहले तीन श्लोकों में विज्ञान बताया जायगा। अबतक उत्तरोत्तर सुगम साधन बताये गये। (१) पहले कहा—कामना ही छोड़ दो। (२) फिर कहा—कामना का परिणाम मत होने दो; तृष्णा, क्रोध व भय इनमें उनका पर्यवसान मत होने दो। (३) फिर बताया—परिणाम हो भी तो उसे अपने काबू में रखो; बुद्धि पर उसका आक्रमण मत होने दो। और (४) अन्त में कहा कि इंद्रियों को ही रोको। इस तरह भिन्न-भिन्न व्यूहों के द्वारा उनका विवरण किया। यह इसलिये कि साधना का श्रीगणेश कैसे करें, यह दिखा दिया जाय। इसका यह अर्थ हरगिज नहीं कि साधना की अन्तिम सीढ़ी तक पहुँचे बिना स्थितप्रज्ञता प्राप्त हो जायगी। अन्त में इन्द्रियों को वश में रखने का तो सिर्फ इस लिये कहा गया कि वह सब में सुलभ साधन है। परन्तु निग्रह व संयम दोनों अर्थों में इन्द्रियां वश में कर लेने पर भी, इतने से ही मनुष्य स्थितप्रज्ञ नहीं हो सकता। यही क्यों, बल्कि

इतने से तो इन्द्रिय-जय भी पूरा नहीं होता। जब इन्द्रियों पर हम काबू पा जायेंगे तो फिर उनका सहारा लेकर भीतर की सारी कामना ही काटकर फेंक देना है। मैं जैसा संकल्प करूंगा वैसा ही इन्द्रियाँ आचरण करेंगी, इस अनुभूति से प्राप्त शक्ति के सहारे कामना का बीज ही मिटा देना है। जब यह कामना-बीज नष्ट हो जायगा तभी हम समझेंगे कि इन्द्रिय-निग्रह सफल हुआ। इन्द्रिय-निग्रह का हमारा माप इतना सूक्ष्म है और वही अब एक श्लोक में बताया जाता है। इन्द्रिय-निग्रह-विज्ञान का यह आरम्भ है।

३२. निराहार प्राथमिक साधना, रसनिवृत्तिपूर्णता।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥

"निराहार की साधना से विषय छूट जाते हैं, परन्तु उसका रस बाकी ही रह जाता है। वह भी फिर पर-दर्शन से निवृत्त हो जाता है।" यह इस श्लोक का भावार्थ है। विषय छूट गये, विषयों से इन्द्रियों को हटा लिया, तो इतने ही से यह न समझना चाहिए कि इन्द्रिय-जय पूर्ण होगया। 'निराहार' शब्द के आहार का अर्थ 'रसना का आहार' तो है ही; परन्तु इसके अलावा 'सब इन्द्रियों के भोग' ऐसा व्यापक अर्थ भी ग्रहण करना होगा। अर्थात् यह शब्द यहां उपलक्षणात्मक है। इन्द्रियों के आहार का निग्रह—यह प्राथमिक साधना है। इससे साधना समाप्त नहीं हो जाती। वह तो सिर्फ शुरू हुई है। बाह्य इन्द्रिय-निग्रह हो जाने से अब भीतरी रस छोड़ने की तैयारी करने की योग्यता व शक्यता प्राप्त हो गई। वास्तविक अर्थात् आन्तरिक साधना की शुरूआत हो गई। जब भीतरी रस चला जायगा तभी साधना पूरी होगी।

वाह्य इन्द्रिय-निग्रह भीतरी रस छोड़ने की शक्यता उत्पन्न करता है, इसीलिए गीता ने स्थितप्रज्ञ के लक्षणों में उसका समावेश किया है।

३३. पूर्ण व्याख्या के साथ ही प्राथमिक साधना दिखाने वाली गीता की गुरु-दृष्टि।

तत्त्वज्ञानी मनुष्य की दृष्टि से कहना हो तो सिर्फ इतना ही कह देना काफी है कि सभी कामनाएं छोड़ दो। आरंभ की स्थित-प्रज्ञ की व्याख्या तत्त्वज्ञानी की भाषा में की गई। परन्तु तत्वज्ञानी का ढंग और है व शिक्षक का ढंग और। शिक्षक विद्यार्थी की भूमिका व अधिकार का ख्याल करके बताता है। वह यह तो जताकर कह देता है कि अन्तिम साधना पूर्ण हुए विना डिप्लोमा नहीं मिलेगा, परन्तु इसके साथ ही यह भी वताता है कि आज का पाठ क्या होगा। अर्थात् एक ओर शास्त्रीयता को कायम रखकर दूसरी ओर दयालु होकर उसे ऐसा भी साधन वताता है जिससे विद्यार्थी को आशा मालूम होती है व धीरज वंधता है। गीता की पद्धति भी इसी प्रकार वत्सलता-पूर्ण है। कछुए का उदाहरण पहला पाठ है। एक पाठ के वाद दूसरा पाठ इस तरह गुरु-माता के वात्सल्यानुसार गीता एक-एक कदम आगे ले जाती है। दयालु सन्तों ने तो यहां तक आश्वासन दे दिया है कि जिसने भक्तिपूर्वक एक वार भी ईश्वर का नाम ले लिया वह भी मोक्षाभिमुख हो गया। उसका मुंह सही दिशा की ओर हो गया। यह वात नहीं कि इससे वह मंजिल पर पहुँच गया। परन्तु दिशा हाथ लग गई तो आशा मालूम होने लगती है। आशा वढ़ाते-वढ़ाते ठेठ मुकाम तक पहुँचा देना गुरु-दृष्टि की विशेषता है।

३४. प्राथमिक साधना स्पष्टतः ही अपूर्ण, परन्तु इसलिए ढोंग नहीं।

असली कहना यह है कि जबतक भीतर का रस नष्ट न हो तबतक प्रयत्न जारी रखना चाहिए। किन्तु तबतक क्या करें? तबतक बाहर से इन्द्रियों को तो रोकना ही है। इसपर कुछ लोग कहते हैं, यह तो ढोंग हुआ। सो, जिन्हें आत्मनाश करना हो वे ऐसे तार्किकों के चक्कर में फंसें; यदि कोई साधकों पर ढोंग का इल्जाम लगाना ही चाहें तो वह उसी समय साबित हो जायगा; क्योंकि साधना पूर्ण होने तक उसका केवल प्रयत्न ही जारी रहने वाला है। तबतक उसकी मनोऽवस्था और आचार में फर्क दिखाई ही देगा। वह प्रार्थना में बैठेगा तो भी मन इधर-उधर दौड़ता रहेगा। तो उपाय बताते हैं—"वह प्रार्थना ही न करे। प्रार्थना तो ढोंग है।" साधक पर ऐसा आरोप उसी समय साबित होगा जब यह सिद्ध किया जा सकेगा कि वह लोगों को दिखाने के लिए प्रार्थना का दिखावा करता है। पर वह ऐसा तो करता नहीं। जब ढोंग की नीयत न हो तो उसे ढोंग कैसे कहेंगे? कोई-कोई गीता के इसी श्लोक से यह अर्थ निकालना चाहते हैं कि जबतक मन वशीभूत न हो सके तबतक इन्द्रियों को रोकना ढोंग है। परन्तु वह ठीक नहीं है। 'रसस्त्वस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते' यदि ऐसी भाषा होती तो शायद ऐसा अर्थ किया भी जा सकता था। परन्तु यहां तो 'रसोऽपि' कहा है। 'अपि' शब्द से इन्द्रियों को वश में रखने का भी महत्त्व सूचित हो जाता है। परन्तु इतने से साधना पूर्ण नहीं होती, रस अर्थात् स्वाद निर्मूल होना चाहिए। इतना अर्थ उसमें भरा हुआ है। जबतक रस नहीं जाता तबतक जो इन्द्रियनिग्रह होगा उसे चाहो तो 'मिथ्या'

कह सकते हैं; पर ढोंग तो हरगिज नहीं। इन्द्रिय-निग्रह का स्थूल व सूक्ष्म इस तरह दुहेरा अर्थ है। दोनों प्रकार का निग्रह करके अन्त को उसे स्थित-प्रज्ञ की मूल व्याख्या तक जा पहुँचाना है।

३५. साधना की पूर्णता पर-दर्शन, अर्थात् आत्म-दर्शन।

जवतक भीतरी रस नहीं जाता तवतक सूक्ष्म अर्थ में इन्द्रिय-निग्रह नहीं सध सकता। यह रस कैसे जाय? इसका उत्तर दिया है पर-दर्शन से, आत्म-दर्शन से। परतत्त्व का अर्थ है—सवसे पल्ले पार का तत्त्व। वस्तुतः वह तत्त्व सवसे पल्ले पार का नहीं, वल्कि विल्कुल इस पार का है। वह पर-तत्त्व नहीं, स्व-तत्त्व है। परन्तु उलटी ही भाषा प्रचलित हो गई है। इसका कारण यह है कि हम शरीर से अर्थात् वाह्य तत्त्व से गिनती शुरू करते हैं। शरीर सवसे वाहरी है, उसे सवसे नजदीक का मानते हैं। उसके वाद मन, उसके वाद वुद्धि और वुद्धि के भी वाद आत्मा—ऐसी उल्टी गिनती से जो सवसे नजदीक का है वह सवसे दूर का हो रहता है। "इन्द्रियाणि पराण्याहुः, इन्द्रियेभ्यः परं मनः" इत्यादि वचनों में गीता ने ऐसी ही भाषा को अपनाया दीखता है। परन्तु वहां 'पर' शब्द का अर्थ 'श्रेष्ठ' अथवा 'सूक्ष्म' समझना है। सवसे सूक्ष्म, सवसे श्रेष्ठ, सवसे पास, आत्मा है। उसका दर्शन हुए विना इन्द्रिय-निग्रह पूरा नहीं होता। अर्थात् जो वात पहले श्लोक में कही थी वहीं लाकर फिर छोड़ दिया।

(२)

३६. इन्द्रियों का उद्दाम या जवरदस्त स्वभाव : एतद्विपयक मनु का वचन।

इसपर कोई कहेगा कि ' "वाह उत्तरोत्तर सुगम साधन

बताता हूं, ऐसा आश्वासन देकर हमको अच्छा फंसाया। पहले मिठाई दिखाकर फिर डण्डा दिखाया। भीतरी रस, मिठास, स्वाद छोड़ना कोई मामूली बात है? यह कैसे सधेगा?" इसीकी प्रक्रिया अब बतानी है। परन्तु इससे पहले आक्षेपकों द्वारा किया आक्षेप ही भगवान् एक श्लोक में दृढ़ करते हैं।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥

इसका अर्थ है–"प्रयत्नशील और विचारवान् मनुष्य तक की इन्द्रियां उस ओर जोर मारकर उसके मन को खींच ले जाती हैं।" ऐसा ही एक वचन मनु का भी है। अनेक लोग उसका व गीता के इस श्लोक का एक ही अर्थ करते हैं। "मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा, न विविक्तासनो भवेत्। बलवान् इन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति।" यह मनु का वचन है। इसका भावार्थ है–"मनुष्य को चाहिये कि वह मां, बहिन व लड़की के विषय में भी सावधान रहे; क्योंकि इन्द्रियां बलवान् होती हैं और मौका पड़ने पर विद्वान् को भी खींच ले जाती हैं।"

३७. मनु की व गीता की भूमिका समान नहीं।

परन्तु मनु के इस वचन का मेल, सच पूछिए तो, गीता के वाक्य के साथ नहीं बैठ सकता। मनु ने साधारण मनुष्य के लिए व्यवहार की सामाजिक मर्यादा बताई है। गीता में आध्यात्मिक दृष्टि से विवेचन किया गया है। "मनुष्य को अपने पर जरूरत से ज्यादा विश्वास न रखना चाहिए। बाह्यतः भी इन्द्रिय-निग्रह उससे हो ही सकेगा, यह नहीं कह सकते।" यह आशय मनु का है। उन्होंने सर्व-साधारण के लिए अपनी दृष्टि से व तत्कालीन परिस्थिति के अनुसार एक सुरक्षित

सामाजिक नियम बतलाया। किन्तु गीता का वाक्य साधक के लिए है, और उसमें ऐसा अविश्वास नहीं दिखाया गया है। गीता साधकों से यह नहीं कहना चाहती कि तुमसे स्थूल अथवा वाह्य इन्द्रिय-निग्रह भी नहीं सध सकता। यहां यह गृहीत किया गया है कि इन्द्रियों को बाह्यतः रोककर हम निराहार हो सकेंगे। गीता मानती है कि हम चाहें तो विषयों से इन्द्रियों को हटा सकते हैं। इतना ही नहीं, बल्कि ऐसा कहती है कि अवश्य ऐसा करना चाहिए। मनु तो इतनी भी अपेक्षा नहीं रखते। वह तो केवल साधारण मनुष्य को सावधानी का एक संकेत करके छुट्टी पा लेते हैं। लेकिन यहां गीता का आशय भिन्न है। यहां यह आध्यात्मिक विचार पेश किया गया है कि इन्द्रियों को विषयों से हटा लेने पर भी वे हार न खाकर उलटा मन पर हमला करती हैं। बाहरी विषयों से इन्द्रियां हटा लीं तो भी वे मन में आसन जमाकर बैठ जाती हैं। इससे इच्छा न रहते भी मानसिक विषय-सेवन होने लगता है। ऐसा होने से सूक्ष्म अर्थ में इन्द्रिय-निग्रह नहीं होता—इतना ही गीता का कहना है।

३८. ज्ञानी व प्रयत्नवान् मनुष्य के भी मन को इन्द्रियाँ खींच सकती हैं।

जो अच्छी तरह विचार-पूर्वक प्रयत्न करता है उसका भी यह हाल हो जाता है। "यततो ह्यपि, विपश्चितः अपि" इस तरह 'अपि' शब्द दोनों जगह लेना है। 'विपश्चित्' शब्द में 'विपः' और 'चित्' ये दो शब्द हैं। 'विपः' 'विप्' शब्द की द्वितीया का बहुवचन है। 'विप्' ज्ञानार्थक धातु है। यही 'विप्र' शब्द में है। 'विप्र' यानी ज्ञानी। 'विपश्चित्' यानी अनेक ज्ञानों को जानने वाला, ज्ञाता। ऐसा ज्ञाता भी है और प्रयत्नशील

भी है, किन्तु उसके लिए भी सूक्ष्म इन्द्रियजय साधना कठिन होता है; क्योंकि इद्रियां उसके भी मन को लुभाना चाहती हैं।' ऐसा भाव यहां गीता का है।

३६. परन्तु ज्ञान व तितिक्षापूर्वक प्रयत्न यही दो शक्तियां मनुष्य के पास हैं।

ज्ञान व तितिक्षापूर्वक प्रयत्न यही दो शक्तियां मनुष्य के पास हैं, तीसरी कोई शक्ति उसके पास हुई नहीं। अब यदि यह कहा जाय कि मनुष्य को उपलब्ध ये दोनों शक्तियां लगा देने पर भी इन्द्रियां सिरजोर होकर मन में आसन जमा लेती हैं तो फिर मुश्किल ही समझना चाहिए। यत्नवान् विपश्चित् पुरुष का अर्थ हुआ तत्त्वज्ञान व तितिक्षा इन दोनों शक्तियों से सम्पन्न पुरुष। दूसरे अध्याय में आरम्भ में ही इसी पुरुष को 'धीर' संज्ञा दी गई है। 'धीर' का अर्थ दो तरह से किया जाता है। 'धी' अर्थात् बुद्धि और 'धीर' यानी बुद्धिमान्, ज्ञानी। परन्तु अकेले ज्ञान से साधना पूरी नहीं होती। ज्ञान तो है, पर सहन करने की शक्ति अर्थात् तितिक्षा नहीं है तो मनुष्य टिक नहीं सकेगा। मनुष्य को कितनी ही दारुण यन्त्रणा दी जाय तो भी यह कहना कठिन है कि कोरे ज्ञानबल से वह सब अन्त तक सह सकेगा। एक वैज्ञानिक की कथा प्रसिद्ध है। "पृथ्वी घूमती है" यह प्रतिपादन करने के कारण उसे बहुत सताया गया। तब उसने कहा—"लाओ, आप लोग जो कहेंगे उसपर दस्तखत कर देता हूँ"। वे लोग 'पृथ्वी नहीं घूमती है' इस आशय के मजमून पर सही कराना चाहते थे। अधिक सह न सका, इसलिये बेचारे को मजबूर होना पड़ा। परन्तु जब दरअसल सही करने का समय आया तब उसने कहा—"मैं क्या करूं। मेरे 'नहीं' कहने पर भी वह तो घूमती है,

घूमती है और अवश्य घूमती है।" भावार्थ यह कि ज्ञान के साथ तितिक्षा भी चाहिए। अक्लमन्दी के साथ दृढ़ता, कठोरता चाहिए। 'धीर' शब्द के दूसरे अर्थ में वह आ जाती है। इसके लिये धीर शब्द का अर्थ 'धृ' धातु से लगाना चाहिए। धीर कहते हैं धृतिमान्, धैर्यवान्, तितिक्षावान् को। गीता में इस शब्द में दोनों अर्थ समाविष्ट हैं।

४०. जब ये भी काफी न हों तो क्या करें ?

ऐसा तत्त्वज्ञान-तितिक्षा-सम्पन्न धीर पुरुष ही शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वों को सहन करने में समर्थ होकर मोक्ष लाभ के योग्य होता है—ऐसा भगवान् ने दूसरे अध्याय के आरम्भ में कहा है। परन्तु स्थित-प्रज्ञ के लक्षणों में भगवान् कहते हैं—इन दोनों शक्तियों के रहने पर भी इन्द्रियां मन को चक्कर में डाल देती हैं। यत्नवान् विपश्चित् पुरुष के भी वश में इन्द्रियां नहीं होतीं, उसपर भी वे मात कर जाती हैं, ऐसा कहने पर तो मानो आशा के लिए कोई जगह ही नहीं रही। यह तो निराशावाद ही हो गया। दूसरे शब्दों में आक्षेपकों का यह आक्षेप कि इन्द्रिय-निग्रह का अर्थ आपने बहुत ही कठिन कर डाला, गीता ने और भी मजबूत कर दिया। अब इसमें से रास्ता कैसे निकालें, यही बात अगले श्लोक में बताने वाले हैं।

पांचवां व्याख्यान

(१)

४१. मनु व गीता के वचनों का अधिक विवरण।

कल मनु व गीता के वचनों का फर्क हमने देखा था। आज उसे और ज्यादा स्पष्ट कर लें तो अच्छा। मनुष्य की बुद्धि व इन्द्रियों के बीच में मन है। अतः जो इन्द्रियों पर काबू पाना चाहता है वह मन पर भी काबू पाना चाहता है। परन्तु मन पर काबू आसानी से नहीं पाया जाता। इसलिए गीता कहती है कि पहले इन्द्रियों को वश में करो। इसका यह अर्थ नहीं कि ऐसा कर लेने से मन वश में हो ही जायगा। बल्कि इन्द्रियां जब विषयों से अलग हो जाती हैं तब मन पर हमला करती हैं। साधक इस बात को जानता है, वह अपने को मन से अलग करके देखता है। वह जानता है कि मन पर हमला हो रहा है। वह मनके अधीन नहीं होता। उससे सहयोग भी नहीं करता। गीता की भाषा में यह भाव सूचित किया गया है। "हरन्ति प्रसभं मनः" इन्द्रियां जबरदस्ती उसके मन को खींच ले जाती हैं। यह नहीं कहा कि उसीको खींच ले जाती हैं। साधक का मन इन्द्रियों के साथ खींचा जाता है, साधक नहीं खींचा जाता, परन्तु मनु ने अलबत्ता ऐसा नहीं कहा है। वह कहते हैं—"ये जबरदस्त

घूमती है और अवश्य घूमती है।" भावार्थ यह कि ज्ञान के साथ तितिक्षा भी चाहिए। अक्लमन्दी के साथ दृढ़ता, कठोरता चाहिए। 'धीर' शब्द के दूसरे अर्थ में वह आ जाती है। इसके लिये धीर शब्द का अर्थ 'धृ' धातु से लगाना चाहिए। धीर कहते हैं धृतिमान्, धैर्यवान्, तितिक्षावान् को। गीता में इस शब्द में दोनों अर्थ समाविष्ट हैं।

४०. जब ये भी काफी न हों तो क्या करें ?

ऐसा तत्त्वज्ञान-तितिक्षा-सम्पन्न धीर पुरुष ही शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वों को सहन करने में समर्थ होकर मोक्ष लाभ के योग्य होता है—ऐसा भगवान् ने दूसरे अध्याय के आरम्भ में कहा है। परन्तु स्थित-प्रज्ञ के लक्षणों में भगवान् कहते हैं—इन दोनों शक्तियों के रहने पर भी इन्द्रियां मन को चक्कर में डाल देती हैं। यत्नवान् विपश्चित् पुरुष के भी वश में इन्द्रियां नहीं होतीं, उसपर भी वे मात कर जाती हैं, ऐसा कहने पर तो मानो आशा के लिए कोई जगह ही नहीं रही। यह तो निराशावाद ही हो गया। दूसरे शब्दों में आक्षेपकों का यह आक्षेप कि इन्द्रिय-निग्रह का अर्थ आपने बहुत ही कठिन कर डाला, गीता ने और भी मजबूत कर दिया। अब इसमें से रास्ता कैसे निकालें, यही बात अगले श्लोक में बताने वाले हैं।

पांचवां व्याख्यान

(१)

४१. मनु व गीता के वचनों का अधिक विवरण।

कल मनु व गीता के वचनों का फर्क हमने देखा था। आज उसे और ज्यादा स्पष्ट कर लें तो अच्छा। मनुष्य की बुद्धि व इन्द्रियों के बीच में मन है। अतः जो इन्द्रियों पर काबू पाना चाहता है वह मन पर भी काबू पाना चाहता है। परन्तु मन पर काबू आसानी से नहीं पाया जाता। इसलिए गीता कहती है कि पहले इन्द्रियों को वश में करो। इसका यह अर्थ नहीं कि ऐसा कर लेने से मन वश में हो ही जायगा। बल्कि इन्द्रियां जब विषयों से अलग हो जाती हैं तब मन पर हमला करती हैं। साधक इस बात को जानता है, वह अपने को मन से अलग करके देखता है। वह जानता है कि मन पर हमला हो रहा है। वह मनके अधीन नहीं होता। उससे सहयोग भी नहीं करता। गीता की भाषा में यह भाव सूचित किया गया है। "हरन्ति प्रसभं मनः" इन्द्रियां जबरदस्ती उसके मन को खींच ले जाती हैं। यह नहीं कहा कि उसीको खींच ले जाती हैं। साधक का मन इन्द्रियों के साथ खींचा जाता है, साधक नहीं खींचा जाता, परन्तु मनु ने अलबत्ता ऐसा नहीं कहा है। वह कहते हैं—"ये जबरदस्त

इन्द्रियां विद्वान् को भी खींच ले जाती हैं। उसके मन को ही नहीं बल्कि खुद उसीको खींच ले जाती हैं।" विद्वांसमपि कर्षति।" इन्द्रियों को रोककर रखते रखते भी वे मन पर हमला करती हैं। अतः ऐसा उपाय करना चाहिए कि उनका आक्रण मन पर न होने पावे। पर प्रयत्नशील विद्वान् के लिए भी यह कठिन होता है। अर्थात् साधक की यह विचली अवस्था गज-ग्राह जैसी होती है। मन विषय की ओर दौड़ता है। साधक उससे सहयोग नहीं करता। किन्तु वह ऐसी स्थिति प्राप्त करना चाहता है जिससे मन उनकी ओर जाये ही नहीं। और उसका सारा तत्त्वज्ञान और तीव्र प्रयत्न भी इसमें नाकाफी साबित होता है। तब सवाल होता है कि किया क्या जाय? इसीका उत्तर अगले श्लोक में दिया है।

४२. युक्तिपूर्वक जितना हो सके इन्द्रिय-निग्रह करके जब अपना बल नाकाफी हो तो भक्ति का आवाहन करो।

"तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

युक्तः सन् तानि सर्वाणि संयम्य मत् परः आसीत—ऐसा अन्वय करना चाहिए। युक्तिपूर्वक सब इन्द्रियों का संयम करके ईश्वर-परायण हो कर रहे। ज्ञान व तितिक्षा के बल पर इन्द्रियों को वश में कर ही लेना चाहिए। जहां जरूरी हो तहां निग्रह व जहां आवश्यक हो तहां संयम करने की युक्ति साध ही लेनी चाहिए। इस तरह पहले युक्तिपूर्वक इंद्रियों को वश में करलो, यह कहा है। निग्रह व संयम दोनों का संग्राहक एक ही शब्द है 'निरोध'। गीता कहती है कि ज्ञान व तितिक्षा के बल पर निरोधशक्ति प्राप्त करो। परन्तु इस तरह बड़ी युक्ति से इन्द्रिय-निरोध करने पर भी जबतक मन वश में न हो

जाय तबतक निरोध पूरा नहीं समझा जा सकता। मनोनिरोध के लिए मानवी बल नाकाफी होता है। यहीं से भक्ति की शुरुआत होती है।

४३. भक्ति की आवश्यकता।

जब व जहां मनुष्य की पुरुषार्थ-शक्ति कुण्ठित होती है, टूट जाती है, तभी भक्ति की आवश्यकता उत्पन्न होती है। परिपूर्ण प्रयत्न किये बिना भक्ति के लिए गुंजाइश नहीं है। ईश्वर ने जो शक्ति हमें दे रखी है उसे पूरा-पूरा इस्तेमाल करने में ही हमारी नम्रता व आस्तिकता है। हमारे अन्दर जो शक्ति बसती है वह 'वासुदेव' शक्ति है। वह ईश्वर की ही शक्ति है, वह उसने हमें पहले से ही दे रखी है। कुछ शक्ति उसने हमें दे रखी है, कुछ अपने पास रख छोड़ी है। यह जो देवदत्त शक्ति है उसे हम स्व-शक्ति समझते हैं, यह हमारी भूल है। वस्तुतः वह ईश्वर की ही शक्ति है। इसके विपरीत ईश्वर ने जो शक्ति अपने पास रख छोड़ी है, वह भी हमारी ही है। अपने पास की शक्ति के खर्च हो जाने पर ही उस शक्ति को मांगने का अधिकार प्राप्त होता है।

४४. प्राप्त शक्ति का पूर्ण उपयोग कर लेने पर ही ईश्वर से अधिक शक्ति मांगने का अधिकार है।।

जो शक्ति हमें प्राप्त है उसको यदि हमने पूरा-पूरा इस्तेमाल न किया, तो फिर वह अपनी शेष शक्ति ईश्वर हमें दे भी कैसे ? बाप ने बेटे को व्यापार के लिए १० हजार की पूंजी दी। उसने उससे काम नहीं लिया तो बाप उसे १ लाख की पूंजी कैसे देगा ? यदि पहली पूंजी को वह अच्छी तरह काम में लाकर दिखा देगा तो बाप कहेगा—"यह बाकी सब तुम्हारी

ही है" हमारा व ईश्वर का सम्बन्ध ऐसा ही है। वह अपने पास की सारी शक्ति हमें दे देने के लिए तैयार है। परन्तु उसकी आवश्यकता अलवत्ते सिद्ध होनी चाहिए। यदि किसीने जो-जो शक्ति उसे मिलती जाती है उसे काम में लाते-लाते यह साबित कर दिया कि उसे ईश्वर की सारी ही शक्ति चाहिए तो इससे ईश्वर को आनन्द ही होगा। वह कहेगा—'वाह, ऐसा ही तो उद्योगी भक्त मुझे चाहिए था।" परन्तु संसार में ऐसा कोई कार्य ही नहीं उत्पन्न हुआ जिसके लिए ईश्वर की तमाम शक्ति की आवश्यकता हो। अतः मनुष्य जितनी शक्ति की आवश्यकता सिद्ध करेगा उतनी उसे ईश्वर से बिला दिक्कत मिलती रहती है। मनुष्य को कभी भी निराश होने की या हार मानने की आवश्यकता नहीं है। वह अपने पास की सारी शक्ति लगा देगा तो उसे अधिक शक्ति अवश्य ही मिल जायगी। अपने पास की शक्ति को पूरा-पूरा लगाये बिना भगवान् से यदि मदद मांगें तो उसे क्यों देनी चाहिए? भगवान् को अपनी करामात दिखाकर खुद अपनी कीर्ति तो बढ़ाना है नहीं। उसकी कीर्ति में अभी कुछ बढ़ती होना बाकी है क्या? वह तो परिपूर्ण ही है। वह तो तुम्हारा ही वैभव व यश बढ़ाना चाहता है। तुम अपनी सारी शक्ति लगाकर प्रयत्न करो। जब थकने लगो तो ईश्वर को पुकारो, वह तुम्हें और बल देगा।

४५. इसके लिए गजेन्द्रमोक्ष का संशोधित दृष्टांत।

गजेन्द्र-मोक्ष का उदाहरण देते हुए भक्ति-मार्ग में यह बताया जाता है कि पहले गजेन्द्र ने अपनी शक्ति से विजय प्राप्त करने का प्रयत्न किया, अतः भगवान् उसकी सहायता के लिए नहीं आये। उसे अपनी शक्ति का अहंकार था।

यदि गजेन्द्र को अपनी शक्ति का अहंकार था तो ईश्वर ने उसका गर्व-परिहार होने के बाद ही तो उसकी सहायता की, यह अच्छा ही किया। परन्तु फर्ज कीजिए कि एक ऐसा गजेन्द्र है जिसे अपनी शक्ति का अहंकार नहीं है; परन्तु अपने बल को काम में न लाके वह भगवान् से मदद मांगता है, तो इसमें अपने पास की शक्ति को न लगाने की हठ अहंकार ही तो है। उसके पास जो बल है उसे वह क्यों न लगावे? वह बल उसका अपना तो है नहीं? है तो वह भगवान् का ही दिया हुआ। मेरा बल भी भगवान् का ही है, ऐसी भावना से स्वशक्ति लगाना अहंकार नहीं हो सकता। उलटे अपने पास का बल न लगाना अहंकार, आलस्य और अश्रद्धा है। जो शक्ति तेरी नहीं है उसे तो तू रख छोड़ता है और फिर भगवान् से सहायता मांगने जाता है। अपने अन्दर जो भगवान् की शक्ति मौजूद है उसे निरहंकार होकर पूरा पूरा लगा देख और फिर अधिक शक्ति का आवाहन कर। जो शक्ति पास है उसे अच्छी तरह लगा लोगे तो जो नहीं है वह ईश्वर अवश्य देता है।

४६. ईश्वर-शरणता में पराधीनता नहीं है।

परंतु इसमें भी आखिर तो ईश्वर पर ही भरोसा रख के रहना पड़ता है। अतः कोई कहेंगे कि यह भी तो कुल मिलाकर पराधीनता ही हुई। परन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि यों देखा जाय तो जहाँ हमारी शक्ति खतम हुई कि वहीं पराधीनता आ गई। परंतु ईश्वर की शक्ति का आवाहन करना सचमुच में पराधीनता नहीं है। ईश्वर को यदि पराया मानें तो वह पराधीनता होगी। परंतु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। कोट की जेब में दो हिस्से कर लिये और दोनों

में पैसे भरकर रख लिये। ऊपर के हिस्से के पैसे खर्च हो जाने पर अन्दर के हिस्से से निकाल लिये। दोनों हिस्से हैं तो अपनी ही जेब के न? अथवा कुछ रुपये तुम्हारी अपनी ट्रंक में हैं, व कुछ बैंक में जमा हैं, ऐसा ही समझ लो। ईश्वर और हम दोनों एक ही चैतन्य के रूप हैं। हम अंशमात्र हैं। ईश्वर उस चैतन्य का पूर्णरूप है। तो भी चैतन्य तो एक ही है। अतः जो उसकी शक्ति है वही हमारी शक्ति है। इसलिए ईश्वर से शक्ति मांगने व प्राप्त करने में पराधीनता नहीं है।

(२)

४७. स्थूल सांसारिक कार्य ईश्वर की सहायता के विषय नहीं।

मनोनिरोध-संबंधी प्रयत्नों की पराकाष्ठा हो जाने पर भक्ति का स्थान आता है और हमने देखा है कि तभी उसकी आवश्यकता भी उत्पन्न होती है। अपना प्रयत्न थकने पर ही हम दूसरी सहायता के लिए बेचैन हो उठते हैं। इस व्याकुलता में से ही भक्ति का जन्म होता है। इससे पहले व्याकुलता भी नहीं होती। इसीसे भक्ति भी नहीं रहती। श्रद्धा हो सकती है। सो पहले अपनी शक्ति को काम में लाकर इन्द्रियों को वश में कर लो। विषयों से हटी हुई इन्द्रियां जब मन पर धावा करने लगें तब उस सूक्ष्म आक्रमण के प्रतिकार के लिए ईश्वर से सहायता मांगो। ऐसे सूक्ष्म व पवित्र कार्य में ही ईश्वर की सहायता मांगना—आस्तिकता कहलाती है। लोगों में यह रिवाज पड़ गया है कि साधारण व्यावहारिक कार्यों में भगवान से मदद मांगे। ऐसों को हम आस्तिक कहते हैं। परन्तु सच पूछिए तो यह आस्तिकता नहीं है। परीक्षा

पास होने के लिए ईश्वर की सहायता मांगना कौनसी आस्तिकता है? यह तो कमअकली है, पुरुपार्थहीनता है। खेत में फसल अच्छी नहीं आई, करो ईश्वर से प्रार्थना, मांगो ईश्वर से मदद। मानो इन सब प्रश्नों को हल करने की शक्ति हमें ईश्वर ने दी ही नहीं! ये ईश्वर की सहायता के विपय ही नहीं हैं। सकाम भावना से बाह्य कार्यों में ईश्वर की सहायता मांगना हमें शोभा नहीं देता।

४८. ईश्वर से याचना मांगने की उचित रीति।

'युद्ध में हमारी-विजय हो—' ऐसी प्रार्थना दोनों पक्ष वाले करते हैं। अब ईश्वर बेचारा खुद भी तो अपनी इच्छा रखता है। दोनों को विजय कराना उसके लिए शक्य नहीं। परन्तु मैं उसे अपनी इच्छा का गुलाम मानता हूँ। मैं आशा रखता हूँ कि वह हमारी इच्छा के अनुसार अपनी दैवी शक्ति लगावे। उसकी इच्छा के अनुकूल अपनी इच्छा को बनाना आस्तिकता है; परन्तु मैं इसके विपरीत ही करता हूँ। मैंने अपनी यह इच्छा निश्चित ही कर डाली है कि मेरी विजय हो। सिर्फ उससे विजय की प्रार्थना भर करता हूँ। सच पूछिए तो प्रार्थना ऐसी करनी चाहिए।—"यदि मेरा पक्ष न्याय का हो तो मेरी विजय हो नहीं तो मेरी हार होने दे, जिससे मेरी बुद्धि तो शुद्ध होगी।" एक भारती आख्यायिका है। अंधे धृतराष्ट्र की सहानुभूति में गाँधारी ने अपनी आँखों पर पट्टी बाँध रखी थी। उसका पुत्र दुर्योधन युद्ध के लिए रवाना होने से पहले उसके पैर छूने आया तो उसने आशीष दी—तू सन्मार्ग पर चल रहा हो तो तेरा जय हो। यही सच्चा आशीर्वाद है। "भगवन्, मेरी खोई हुई चीज मुझे ला दे" ऐसी प्रार्थना भगवान् से क्या करना है! प्रार्थना यही करनी चाहिए, 'वस्तु मिले या न मिले, पर मेरी

शान्ति न डिगे' बच्चा बीमार हो गया तो प्रार्थना करने लगे 'मेरा बच्चा न मरे'। यह क्या प्रार्थना हुई ? मनुष्य कभी-न-कभी तो मरता ही है। यह निश्चित बात है। अब यदि ऐसी प्रार्थना करते हैं कि वह न मरे तो फिर यह ठहराना होगा कि फलाँ वक्त मरने में हर्ज नहीं। अब नहीं, २८ ता० को मरे—ऐसी निश्चित प्रार्थना भगवान् से करो। पर ऐसी याचना करता कौन है ? अतः मांगना ही हो तो भगवान् से यह मांगना चाहिए कि लड़का मरने वाला हो तो भले ही मरे परन्तु मरते समय उसे मानसिक व्याकुलता न हो।

४६. मेरे लिए क्या उचित है यह एक ईश्वर ही जानता है, अतः सकाम प्रार्थना न करें।

पहले हम यह तय कर लेते हैं कि हमारे लिए क्या योग्य है, फिर ईश्वर से उसकी याचना करते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि हम भगवान् को अपनी बुद्धि का गुलाम बनाना चाहते हैं। उपनिषद् में एक कथा है। भगवान् एक पर प्रसन्न हुए। उन्होंने उससे कहा—वर माँगो। उसने कहा—प्रभो, मैं क्या जानूं, कौन-सा वर माँगूं। मुझे इस बात का ज्ञान ही नहीं है कि मेरे लिये क्या योग्य है। तुम्हीं सब कुछ जानते हो। जो मेरे लिए उचित हो वह तुम्हीं दे दो।" यह भक्त परीक्षा में पास हो गया। यही वास्तविक परीक्षा का समय था। उस समय उसने स्वयं निर्णय करके उसे भगवान् पर लादने की कोशिश नहीं की। भगवान् जो मेरी बुद्धि के अनुसार चलने के लिये तैयार नहीं होता इसीमें मेरा कल्याण है। वह यदि मेरी बुद्धि के अनुसार चलने को तैयार हो गया तो यह निश्चित समझो कि मेरा अकल्याण कर के वह मुझे अक्लमन्दी सिखाना चाहता है। हम अपनी बुद्धि को प्रमाण मानते

हैं और फिर चाहते हैं कि हमारी बुद्धि के निर्णय के अनुसार भगवान् चले। ऐसा करना मानो भगवान् को हमारी बुद्धि के अनुसार चलने वाला अपना नौकर समझना है। भले ही वह शक्तिशाली हो, पर है हमारा नौकर ही। निर्णय का विचार करने का अधिकार उसे नहीं; विचार करेंगे हम, निर्णय करेंगे हम; हम हैं 'विधिमण्डल' तो वह है सिर्फ अमल में लाने वाले महकमे का हाकिम। किसी जड़ उपकरण की तरह भगवान् से काम लेने की चाह रखना जड़ता का लक्षण है। अहंकार तो है ही। इसमें भगवान् का अपमान है, हमारी नास्तिकता है। जड़ता का यह भाग सभी धर्मों में भक्ति के नाम पर आ घुसा है। सकाम कर्मों में भगवान् की सहायता मांगना भक्ति का लक्षण नहीं। इसलिए गीता ने स्थान-स्थान पर सकामता पर प्रहार किया है। गीता का मानो सकामता से सदा का झगड़ा ही है।

५०. सकाम-भक्ति को भी सशर्त मान्यता।

परन्तु गीता ने दया-भाव से कहीं-कहीं ऐसा भी कहा है कि भक्त यदि सकाम-भाव से मेरी शरण आवे तो मैं उसे फल देता हूं। उतने भर के लिए मैं उसकी कामना पूर्ण कर देता हूं। परन्तु वह दया-भाव से दिया गया आश्वासनमात्र है। वह कोई शास्त्र नहीं है। जो अपना हित साधना चाहता है उसे तो निष्काम-भाव से ही भगवान् की शरण जाना चाहिए। सकाम-भाव से शरण जाने वाले को भी फल का आश्वासन दिया है। किन्तु वह सकाम प्रार्थना का कोई परवाना नहीं है। कोई सकामता से क्यों न हो, अनन्यभाव से ईश्वर की शरण आया तो बहुत, ऐसी करुणा उसमें भरी हुई है। सकामता में मूढ़ता तो हुई है। अवनति का सम्भव भी है। परन्तु यदि अनन्य-

भाव हो तो उन्नति की भी शक्यता है। उसका अर्थ यह है कि सकामता के नष्ट हो जाने की सम्भावना है। अनन्य-भाव से, मथित हृदय से यदि सकाम प्रार्थना भी की तो ईश्वर के स्पर्श से वृत्ति पवित्र हो जायगी। परन्तु साधारणतः मनुष्य सकाम-प्रार्थना अनन्य-भाव से नहीं करता। ईश्वर पर उसकी न तो पूरी-पूरी अश्रद्धा ही होती है, न श्रद्धा ही। बीमार होने पर इधर डाक्टरों के पैर पकड़ता है, उधर ब्राह्मणों से अनुष्ठान कराता है। उसकी श्रद्धा भी डगमग और पुरुषार्थ भी अधकचरा! ऐसी दुर्बल श्रद्धा अधःपात का कारण होती है। सकामता निचले दर्जे की चीज होने पर भी यदि उसके साथ अनन्य-भक्ति का योग हो तो वह चल सकती है। अनन्य-निष्ठा से वह सकामता भी पावन हो जायगी। सच बात तो यह है कि निष्कामता और अनन्यता का योग ही इष्ट-वाञ्छनीय है।

छठा व्याख्यान

(१)

५१. अबतक के विवेचन का सारांश : यतत् + विपश्चित् + मत्पर = स्थितप्रज्ञ ।

इन्द्रिय-निरोध का कार्य जितना स्थूल है उतना तो साधक को स्वशक्ति से कर लेना चाहिए। परन्तु इतने से, अर्थात् स्थूल-निग्रह से, इन्द्रिय-जय पूरा नहीं होता। मन के भीतर से उसका रस-स्वाद चला जाना चाहिए। किन्तु इन्द्रियां जब मन पर हमला करती हैं तब मनुष्य की दोनों शक्तियां, जिन्हें हमने ज्ञान व तितिक्षा कहा है, नाकाफी साबित होती हैं। इन शक्तियों को विवेक व वैराग्य भी कह सकते हैं। कब इन्द्रियों का निग्रह करना चाहिए व कब संयम—यह जानने की शक्ति 'विवेक' है'। विवेक के द्वारा निग्रह व संयम के अवसरों को पहचान लेने के बाद उसके अनुसार चलने की शक्ति है 'वैराग्य'। परन्तु इस तरह विवेक-वैराग्य-पूर्वक इन्द्रिय-निरोध का प्रयत्न करने पर भी रस बाकी रह जाता है। अतः रस-निवृत्ति के लिए कहते हैं—'मत्परायण होओ'। विवेक व वैराग्य, ये दोनों शक्तियाँ काम में लाने के बाद, तथा इन्हें काम में लाते हुए, ईश्वर-परायण होकर रहना चाहिए। इस प्रकार इन तीन श्लोकों में इन्द्रिय-जय की परिपूर्ण व्याख्या व साधना बताई

है। इन्द्रियों का निग्रह व संयम करके कामनामुक्ति प्राप्त करना इन्द्रिय-जय की परिपूर्ण व्याख्या है। इसकी तिहेरी साधना तीन विशेषणों के द्वारा दर्शाई है—यतत्, विपश्चित् व मत्पर—इन तीन विशेषणों का जोड़ लगावें तो गीता का स्थित-प्रज्ञ हो जाता है। इस प्रकार इन्द्रिय-निरोध-संबंधी विज्ञान के प्रतिपादक इन तीन श्लोकों का त्रिक यहाँ समाप्त हुआ।

५२. ईश्वर-परायणता स्वतंत्र ध्येय है।

परन्तु यहाँ की भाषा का जो अर्थ अबतक हमने लगाया है उससे भी गहरा अर्थ वह रखती है। इन्द्रिय-निरोध में मनुष्य की दोनों शक्तियाँ नाकाफी होती हैं, अतः उसकी पूर्ति के लिए साधक ईश्वर-परायण हो, इतना ही यहाँ नहीं कहा गया है, बल्कि युक्तिपूर्वक जितना हो सके इन्द्रिय-निग्रह साधके ईश्वर-परायण होकर रहे, ऐसी भाषा यहाँ है। इस भाषा का यहाँ ऐसा गहरा अर्थ है कि ईश्वर-परायणता मनुष्य का स्वतंत्र ध्येय है और यही अर्थ शास्त्रीय दृष्टि से ठीक भी है। सो कैसे, यह अब देखना चाहिए।

५३. ध्येय विधायक होना चाहिए।

इन्द्रियों ने जब मन पर हमला बोल दिया तो फिर साधक मन का दोष निकालने का प्रयत्न करता है। परन्तु ऐसा चिन्तन सतत करते रहने से कि मन का विकार निकाल डालना चाहिए, निकाल डालना चाहिए, निकाल डालना चाहिए, वह विकार निकलने के बजाय उलटा पक्का हो जाता है; क्योंकि मन उसीका चिन्तन करता रहता है। इसे विरोधी भक्ति कहते हैं। दुर्जनता के प्रतिकार के ही लिए क्यों न हो, उसका चिन्तन करते रहने से चित्त में दुर्जनता उत्पन्न होती है।

विरोधी चिन्तन से विकार शमन होने के बदले उलटा गहरी जड़ जमा लेता है, विरोधी चिन्तन से कंस कृष्णमय हो गया था—ऐसा भागवत में लिखा है। ऐसा अनुभव भी है कि केवल निषेधक साधन से मनुष्य विकार में ग्रस्त हो जाता है, 'विषय-रस को मन से निकाल डालना चाहिए' ऐसा निषेधक साध्य सामने रखने से निषेधक साधन प्राप्त होंगे। अतः दृष्टि के सामने कोई विधायक ध्येय और उसके अनुरूप कोई विधायक साधना होनी चाहिए। ब्रह्मप्राप्ति की छटपटाहट—ऐसा विधायक ध्येय है।

५४. ब्रह्मचर्य अर्थात् ईश्वर-परायणता इस तरह का विधायक ध्येय है।

ब्रह्म से तन्मय होने का अर्थात् ईश्वर-परायण होने का प्रयत्न करना विधायक साधना है। इसीको ब्रह्मचर्य कहते हैं। हमारी वृत्ति का ब्रह्म से या ईश्वर से तादात्म्य होना चाहिए। ब्रह्मचर्य का अर्थ केवल इन्द्रिय-निग्रह नहीं। इन्द्रिय-निग्रह कोई स्वतन्त्र अथवा अन्तिम साध्य नहीं है। उद्देश्य तो है प्रज्ञा को स्थिर करना। इन्द्रिय-निग्रह प्रज्ञा को स्थिर करने का साधन है। परन्तु प्रज्ञा स्थिर कहां करें? सब ओर से उसे हटाकर स्थिर किस जगह करें? उसे स्थिर होने के लिए कोई जगह चाहिए न? इसका उत्तर है—उसे ईश्वर में स्थिर करो। यहां यह नहीं कहा है कि इन्द्रिय-निग्रह के लिए मत्परायण होओ, कामनानिवृत्ति के लिए मत्परायण होओ। यह तो निषेधक अर्थ हुआ। यह पूर्ण अर्थ नहीं है। इस वचन का ऐसा विधायक अर्थ है—इन्द्रिय-निग्रह करके मत्परायण होओ। कामनाएं यदि बाहर से निवृत्त हों तो फिर उन्हें ठहरने की, रहने की जगह कौनसी? आत्मा ही वह स्थान है। यही

आत्मा इस जगह 'मत्परायण' शब्द में ध्वनित किया गया है। कामनारूपी आलम्बन यदि निकाल लिया तो मन निरालम्ब व खाली हो जायगा। उस दशा में वह अधिक समय तक नहीं रह सकता। इसीलिए उसे ईश्वर का आधार देकर ईश्वर-चिन्तन से भर देना है। वह जब ईश्वर-चिन्तन में मग्न हो जायगा तो फिर उसपर इन्द्रियों के आक्रमण की आशंका नहीं रह जायगी।

५५. ईश्वर-भक्ति ईश्वर-भक्ति के ही लिए है।

इन्द्रिय-निरोध की पूर्णता के लिए ईश्वर-भक्ति की सहायता लेना उचित है, ऐसा पहले कहा। परन्तु वह कथन भी पूर्ण नहीं है; क्योंकि ईश्वर-भक्ति किसीका साधन न होकर खुद ही स्वयम्भू साध्य है, ऐसा बाद में पता चला। ईश्वर-भक्ति का कोई भी अवान्तर उद्देश्य नहीं हो सकता। ईश्वर-भक्ति ईश्वर-भक्ति के ही लिए है। आजकल हम 'कला के लिए कला' 'विद्या के लिए विद्या' 'ज्ञान के लिए ज्ञान' ऐसी भाषा सुनते हैं। परन्तु यह टिकने जैसी नहीं। सांख्यों ने इस विषय में पहले ही निर्णय दे रखा है। जड़ वस्तु स्वयं अपने लिए हो ही नहीं सकती। प्रकृति प्रकृति के लिए नहीं है। प्रकृति पुरुष के लिए है। कला आत्मा के लिए है। विद्या व ज्ञान मेरे लिए हैं। 'जड़ के लिए जड़' यह भाषा ही गलत है; किन्तु यह भाषा और सब बातों में गलत साबित हो तो भी ईश्वर-भक्ति के विषय में सच है। 'ईश्वर-भक्ति के लिए ही ईश्वर-भक्ति' यह भाषा गलत नहीं है; क्योंकि ईश्वर जड़ वस्तु नहीं, बाह्य वस्तु नहीं, वह तो मेरा ही परिशुद्ध रूप है। अतः ईश्वर-भक्ति ही ध्येय व दूसरी सब कामनाएं और साधनाएं उसीके लिए हैं—ऐसा होना चाहिए।

५६. भक्ति की भूमिका प्राकृतिक चिकित्सक की तरह।

बीमारी आ गई है। उसे दूर करने के लिए उपाय हो रहा है। तो अब रोग को दूर करने की जरूरत क्यों है? बीमारी को दूर करना कोई स्वतन्त्र ध्येय नहीं है। ध्येय तो है आत्म-कल्याण। आत्मकल्याण के लिए यदि बीमारी का दूर होना आवश्यक हो तो दूर होना इष्ट है, यदि दूर न होना आवश्यक होगा तो दूर न होना इष्ट साबित होगा। एकबार एक शास्त्रज्ञ से बातचीत हुई। वह प्राकृतिक चिकित्सा के समर्थक थे। उनसे पूछा, आपके शास्त्रानुसार क्या सभी रोगी चंगे हो जाते हैं? उन्होंने कहा—नहीं, सब रोगी नहीं अच्छे होते, सब रोग दूर हो जाते हैं। उनकी भाषा सुनिश्चित थी। उनकी पद्धति में जो रोगी मरने लायक होते हैं वे मर जाते हैं। परन्तु मरते हैं शान्ति-पूर्वक। अच्छे होने लायक रोगी अच्छे हो जाते हैं। वे भी शान्तिपूर्वक अच्छे होते हैं; यही बात यहाँ भी है। भक्त की भूमिका इस प्राकृतिक चिकित्सक की तरह है। वह कहता है "ईश्वर की योजना के अनुसार मेरी आत्मोन्नति के लिए बीमारी दूर होना अभीष्ट हो तो दूर हो। उसकी योजना के अनुसार आत्मोन्नति के लिए दूर न होना अभीष्ट तो हो दूर न हो।" वह तो सब अवान्तर निर्णयों का भार परमात्मा पर छोड़कर छुट्टी पा लेता है। उसकी बुद्धि ने एक ही निर्णय कर रखा है। मुझे आत्मोन्नति चाहिए, ईश्वर-भक्ति चाहिए। इतना ही वह जानता है। और किसी बात को नहीं जानता। वह सब बाह्य कर्म ईश्वर-भक्ति की लब्धि के लिए करता है। किसी भी बाह्य काम के लिए वह ईश्वर-भक्ति को साधन नहीं बनाना चाहता, दुरुपयोग नहीं करना चाहता।

(२)

५७. अनन्यता सकामता को भी बचा लेती है।

अब यहां यह पूछा जा सकता है कि भले ही गौण-रूप में क्यों न हो और अनन्यता की शर्त पर ही क्यों न हो, गीता ने जो सकाम भक्ति को जगह दी है वह दी ही क्यों? इसका उत्तर यह है कि कामना-पूर्ति के लिये यदि किसी ने दूसरे सब अवान्तर आधार छोड़कर एक ईश्वर का ही पल्ला अनन्यभाव से पकड़ लिया तो यह समझना चाहिए कि उसने भी एक उत्तम निश्चय किया और सब आधारों को छोड़कर एक ईश्वर पर ही भरोसा रखना कोई ऐसा-वैसा निश्चय नहीं है। अतएव सकामता के निचले दरजे की होने पर भी यह निश्चय ही आत्मोन्नति में साधक होता है। आगे नवें अध्याय में तो इससे भी एक कदम आगे कहा है—मुझे अनन्य भाव से भजने वाला अनन्य दुराचारी हो तो भी शीघ्र ही उसकी भावना शुद्ध हो जाती है। "क्षिप्रं भवति धर्मात्मा" वह शीघ्र धर्मात्मा हो जाता है। यह अनन्यता का सामर्थ्य है। बीमारी आई, उसे दूर करने की चिन्ता लगी तो डाल दिया सारा भार भगवान् पर ही। डाक्टर की जरूरत है न वैद्य की ही। खाना-पीना भी छोड़ दिया। 'भगवान् मुझे बचाओ' कहकर अनन्य भाव से उसे ही पुकारा। ईश्वर उसकी श्रद्धा देखकर या तो अच्छा ही कर देगा या प्रत्यक्ष दर्शन देकर उसे अपने पास भी ले जायगा। दूसरी दृष्टि से लोगों को ऐसा दिखाई देगा कि उसकी कामना पूरी नहीं हुई। परन्तु भगवान् पर अनन्य श्रद्धा रहने के कारण भक्त को ऐसा ही अनुभव होगा कि मेरा तो अत्यन्त कल्याण ही हुआ।

५८. सुदामदेव का दृष्टान्त।

इस विषय में सुदामदेव का उदाहरण बहुत मौजूं है। दरिद्रता से अतिशय पीड़ित होने के कारण उसकी पत्नी ने उसे श्रीकृष्ण के पास भेजा। श्रीकृष्ण ने उसे कुछ न देकर सूखा ही घर लौटा दिया। उसे पहुँचाने खुद बड़ी दूर तक साथ आये। सुदामदेव कुछ चिवड़ा पल्ले में बांधकर ले गये थे, सो भी गवाँकर खाली हाथ लौटे। पर मन में बहुत आनन्द हो रहा है। "पत्नी ने मुझे कामना लेकर भगवान् के यहां भेजा था। पर वह माधव कितना दयालु है। उसने मेरी जैसी-तैसी कामना पूर्ण नहीं की!" यह कहते हुए वह अपनी भक्ति को पुष्ट करता हुआ घर लौटा तो क्या देखता है कि सारा गाँव सोने का बन गया है। "भगवान् का कैसा अनुग्रह कि उसने सारा गाँव ही सोने का बना दिया! किन्तु यह मेरे तुच्छ सुखोपभोग के लिए थोड़े ही है। भगवान् की यह देन जनता की सेवा में ही लगाऊं न" भगवान् ने दिया तो भी अनुग्रह, न दिया तो भी उसका अनुग्रह ही, इस अनन्यता की भावना में ही भक्त की महिमा समाई हुई है।

५९. भक्त को सब बातों में ईश्वर की कृपा दिखाई देती है।

एकनाथ को भगवान् ने मन के माफिक पत्नी दी। उन्हें लगा—"भगवान् का कितना अनुग्रह है मुझपर। अब इसकी सहायता से जल्दी ईश्वर-प्राप्ति करूंगा।" तुकाराम को अनुकूल पत्नी नहीं मिली। वे कहते हैं—भगवान् का मुझपर कितना अनुग्रह है कि उन्होंने मुझे मन-माफिक स्त्री नहीं दी, नहीं तो मैं अवश्य ही इस संसार में फंस जाता।" पत्नी मन के माफिक मिली तो भी अनुग्रह, मन के खिलाफ मिली तो भी अनुग्रह। न मिले तब भी अनुग्रह और मिलकर मर गई तो

भी अनुग्रह ही।

"पत्नी मरी, पाई मुक्ति।
मानो दे दी माया मुक्ति॥
प्रभुजी अब हम दोनों राजा।"

भगवान्, तेरे-मेरे बीच एक परदा था, सो अब चला गया। अब हम दोनों का एकच्छत्र राज्य हो गया। इस तरह भक्तों को सब बातों में परमेश्वर की कृपा ही दीख पड़ती है। अनन्य भक्त की भूमिका की यही महिमा है।

६०. अनन्य भक्त की सकामता व्यापक सद्भावना ही है; एक लौकिक दृष्टान्त।

कामनापूर्वक परन्तु अनन्यता से की गई ईश्वर-भक्ति में उद्देश हीन कोटि का होने अथवा दिखाई देने पर भी, अनन्यता की बदौलत भगवान् की कृपा से चित्तशुद्धि होती है, अथवा दूसरी तरह से कहें तो सकामता का लोप होकर निष्कामता की प्राप्ति होती है; अथवा और भी दूसरी भाषा में कहें तो सकामता ही निष्काम बन जाती है। बल्कि अनन्यता से युक्त सकामता, सूक्ष्मदृष्टि से देखें तो, संकुचित सकामता नहीं होती, बार-बार व्यापक सद्भावना ही होती है। इसके लिए हम बड़े उदाहरणों को छोड़कर एक छोटा-सा लौकिक उदाहरण ही लें। मान लीजिए कि एक स्त्री की ईश्वर पर अनन्य भक्ति है। उसकी नथ खो गई है। वह चाहती है कि मिल जाय। वह कहती है—'भगवान् मेरी नथ मिल जाय। देख, मैंने तेरी भक्ति में ज़रा भी कसर नहीं रखी है। फिर भला मेरी नथ क्यों खो गई? और उसे लेने की इच्छा भी किसीको क्यों हुई? अब मैं तो उसे खोजने की कोई कोशिश करूंगी नहीं; पुलिस में भी रिपोर्ट नहीं करूंगी। मन से भी

किसीपर सन्देह नहीं करूंगी। जिस किसीने ली है उसमें तू ही सद्भावना जाग्रत कर देगा तो वह वापस ला देगा। उस हालत में मैं प्रसाद चढ़ाऊंगी। जिसने चुराई है उसे उसमें से आधा प्रसाद दूंगी। उसके प्रति तुच्छ भाव मन में न आने दूंगी; और मैं तेरी भक्ति और भी जोर से मन लगाकर करूंगी। यदि तूने उसे ऐसी सद्बुद्धि न दी तो मैं उसपर क्रोध न करूंगी। तुझपर करूंगी और उस क्रोध में और भी वेग से तेरी भक्ति करने लगूंगी। अब तुझे जो कुछ करना हो सो कर।" जब अनन्य भक्ति व सकामता दोनों की एकत्र कल्पना की जाती है तब इतना गहरा अर्थ उसका होता है। अब इस कल्पित स्त्री की नथ-विषयक कामना वास्तव में क्या है? संसार में किसीके मन में चोरी की प्रेरणा न हो, संसार की वासना शुद्ध रहे—यही न अर्थ हुआ उस कामना का? इतना होने पर अब यह तो ईश्वर की मर्ज़ी पर ही रहा कि वह इस नथ को वापस दिला देगा या नहीं। उसके शासन के अनुसार जो उचित होगा सो वह करेगा। उसका शासन यों निश्चित है, पर हम उसे नहीं जानते। यदि हमें वह मालूम हो जाय तो फिर हमीं ईश्वर न हो जाएं? उसका शास्त्र जो कुछ हो। उस स्त्री को तो दोनों दृष्टियों से भक्ति ही करना है। अनन्य भक्ति व सकामता के योग से क्या फलित निकलता है, यह बात इस उदाहरण से समझ में आ जायगी।

(३)

६१. ईश्वर-परायणता ही मुख्य वस्तु है। वासना को ईश्वरपरायण बनाओ।

इस सबका यह अर्थ हुआ कि अवान्तर कामना तो क्या

परन्तु इन्द्रिय-निग्रह-रूपी साधना भी निचली कोटि की है, व ईश्वर-परायणता ही असली चीज है। गीता थोड़े में बल-पूर्वक कहती है—"तू मत्परायण हो और रुचिपूर्वक विषया-धीन न हो तो बस ! इससे तेरी सारी वासना धुलकर साफ हो जायगी। चित्त में वासनाएं उठती रहें। परन्तु उसके अनु-कूल बाह्यकृति न होने दे तो बस। वासनानुकूल कृति करने से वासना पक्की हो जाती है, अतः ऐसा न कर। परन्तु दूसरी ओर साधक के बाह्य इन्द्रिय-निग्रह कर लेने पर भी चित्त की वासना छूट तो नहीं ही जाती। वह भीतर-ही-भीतर धुंधवाती और सताती रहती है। चित्त को चैन नहीं पड़ने देती। तो वह क्या करे ? कहते हैं, वह उस वासना को ही ईश्वर-परायण कर दे। एकनाथ ने भगवान् से प्रार्थना की है—"मेरे चित्त में जो-जो वासनाएं उठें वह तूही हो जाए।" इस तरह तमाम वासनाओं का रूपान्तर हो जाता है। वासना ईश्वरमय हो जाती है। भक्ति से वह उन्नत होती जाती है।

६२. वासना मूलतः बुरी नहीं है। ईश्वर-परायणता से वासना का रूपान्तर होता है।

वस्तुतः किसी भी मनुष्य में बुरी वासना रहती ही नहीं है। पर वह खुद भी इस बात को नहीं जानता, दूसरे भी नहीं जानते। बाह्य वस्तु की प्राप्ति के लिए वह दौड़धूप करता दिखाई देता है। सारी बाह्यसृष्टि मेरी हो, इसके लिए वह प्रयत्न करता है। कभी-कभी तो निषिद्ध वस्तु के लिए भी वह प्रयत्न करता हुआ दीखता है। सच पूछिए तो शरीर के कैदखाने में बन्द आत्मा की व्यापक होने की यह कोशिश है। वह विराट सृष्टि से अपनी दृष्टि के अनुसार एक-रूप

होना चाहता है। उस शरीर के संकुचित दायरे में उसे चैन नहीं पड़ती। शराबी शराब पीता है। उसके मूल में भी यही बेचैनी है। भक्ति-मार्ग उस शराबी से कहेगा—"तू यह बाहरी तुच्छ शराब पीना बन्द कर दे। भगवान् को ही तू अपनी शराब बना ले। उसकी भक्ति की शराब पीता जा।" उमर खय्याम की रुबाइयों में यही प्रकार दिखाई देता है। "वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः" ऐसी स्थिति उस भक्ति-रूपी शराब के प्याले से हो जाती है। इस तरह वासना भगवान् के अर्पण करने से उसे दिव्य-रूप प्राप्त होता है। इसलिए भगवान् कहते हैं—मत्परायण हो। चित्त में विषय-वासना पैदा हो तो भी घबरा मत, किंकर्त्तव्यमूढ़ मत बन। अलबत्ते विषय-भोग में मत पड़, वासना ईश्वर के अर्पण कर दे। काम-क्रोध भी उसीको चढ़ा दे। इससे उन विकारों का और तेरी वासना का रूपान्तर ही हो जायगा और तब चित्त के विकार शमन होकर प्रज्ञा स्थिर हो जायगी।

६३. निष्कामता, अनन्यता और ईश्वर-भावना हो तो फिर भौतिक विद्या की उपासना भी पावन हो सकती है।

भौतिक विद्या की उपासना में भी यदि निष्कामता, अनन्यता व ईश्वर-भावना हो तो चित्तशुद्धि हो सकती है। इस दृष्टि से भौतिक व आध्यात्मिक, ऐसा भेद ही नहीं रह जाता। यह भेद वास्तव में सच है ही नहीं। तब गणितोपासक का ईश्वर गणित ही हो जायगा। अलबत्ते उस भावना से उसकी साधना हो रही होगी तो। एक गणितशास्त्रज्ञ की बात कहते हैं कि उसने एक अपूर्व शोध की। संसार के ज्ञान में वृद्धि कर देने वाली यह शोध उसने एक कागज में बन्द कर रखी। बाद में वे तमाम कागज कहीं नष्ट हो गये।

परन्तु वह गणिती बिल्कुल शान्त बना रहा। उसके चित्त में ज़रा भी क्षोभ न हुआ। केवल गणित से इतनी शान्ति मिलना सम्भवनीय नहीं। मानना होगा कि वह गणित की उपासना ईश्वरार्पण-बुद्धि से कर रहा था। हो सकता है कि वह ईश्वर का नाम भी न जानता हो। परन्तु इससे उसकी उपासना में अन्तर नहीं पड़ता। मुझ जैसा कोई चरखा कातने में तन्मय हो जायगा। कोई दूसरा किसी और पवित्र सामाजिक उद्योग में तन्मय हो रहेगा। उन-उन विषयों को जो ईश्वर स्वरूप देखकर उनकी उपासना करेगा, उसके चित्त पर इन्द्रियों का आक्रमण न हो सकेगा। जो लोग केवल भौतिक-दृष्टि से विज्ञान की अथवा इतर विषयों की साधना करते हैं, उन्हें यह सिद्धि अलबत्ते नहीं मिल सकती। कारण साफ ही है। भौतिक विषय आखिर आत्मा से जुदा पड़ जाते हैं। आत्म-भिन्न अनात्म विषयों में लीन होने का कितना ही प्रयत्न आत्मा करे तो भी वह कैसे सफल होगा? वही विषय यदि ईश्वर-भावना-भावित हो जाएं तो फिर उनमें आत्मा को लीन होने में कोई भी कठिनाई नहीं रहती। उनमें वह पूर्णतः विसर्जन पा सकता है।

सातवां व्याख्यान

(१)

६४. इन्द्रिय-जय के तत्त्वज्ञान की प्रस्तावना । विषय-चिन्तन से बुद्धिनाश तक की व्यतिरेक परम्परा ।

स्थित-प्रज्ञ का प्रकट लक्षण है जितेंद्रियता। उसका विस्तार बीच के दस श्लोकों में किया गया है। उनमें से तीन श्लोकों का पहला विज्ञान-परिच्छेद पूरा हो गया । अब अन्वय-व्यतिरेक द्वारा इस बात का विवेचन किया गया है कि इन्द्रिय-जय का प्रज्ञा से क्या संबंध है। पहले दो श्लोकों में व्यतिरेक से व पिछले दो श्लोकों में अन्वय से इन्द्रिय-जय की स्थितप्रज्ञता के लिए आवश्यकता बताई गई है। यहां से इन्द्रिय-जय का तत्त्व ज्ञान बताना शुरू हुआ है ।

६५. विषय-चिंतन से संग और संग से काम पैदा होता है ।

"ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥"

जो इन्द्रिय-निरोध नहीं कर पाया है, जो विषयों का ध्यान करता रहता है उसे उस विषय का संग लग जाता है । संग का अर्थ है संगति, परिचय । विषय का संग लगता है, इसका अर्थ हुआ विषयों में स्नेह उत्पन्न होता है । मन विषय में लिप्त होने लगता है। उससे काम पैदा होता है। पहले विषयों

का ध्यान, फिर संग, व फिर काम ऐसा उत्तरोत्तर क्रम है। इन तीनों वृत्तियों में कोई बड़ा फर्क नहीं है। बल्कि ये एक ही वृत्ति के तीन रूप हैं। उद्गम से लेकर मुख तक किसी बड़ी नदी के अनेक नाम होते हैं, तो भी उसका सारा प्रवाह एक ही रहता है। उसी तरह एक ही प्रवाह-शील वृत्ति के ये तीन नाम हैं। मिट्टी व मिट्टी की बनी वस्तुओं में फर्क क्या होगा? चिन्तन के द्वारा विषयों से परिचय होता है, अर्थात् विषय मन में साकार होने लगता है। कोई मनुष्य किसी मित्र के आग्रह से सहज देखने के लिए शराब की दुकान पर चला गया। फिर अपने मित्र के खिंचाव से बारबार जाने लगा। इस खिंचाव का नाम है सङ्ग। फिर उस विषय में रमणीयता, सुन्दरता, आकर्षकता, रस, मिठास, रंजन अनुभव होने लगता है। यही है काम। इसी काम से, गीता कहती है कि फिर क्रोध उत्पन्न होता है। 'कामात् क्रोधोऽभिजायते।"

६६. फिर काम से क्रोध उत्पन्न होता है। इस विषय में भाष्यकारों के स्पष्टीकरण।

यहाँ वास्तविक कठिनाई मालूम होती है। इस जगह विचारकों की फजीहत होती हुई मालूम होती है। यह प्रश्न विकट हो बैठा है। काम से क्रोध कैसे उत्पन्न होता है? आगे चल कर क्रोध से मोह, मोह से स्मृति-भ्रंश, उससे बुद्धिनाश तक सीढ़ियां सीधी मालूम होती हैं। परन्तु यह ठीक-ठीक समझ में नहीं आता कि काम में से क्रोध कैसे पैदा होता है। शंकराचार्य ने अपने भाष्य में "कामात् कुतश्चिन्त् न प्रतिहतात् क्रोधः अभिजायते" ऐसा हल निकाला है। वे कहते हैं—काम जब प्रतिहत होता है तो उसमें से क्रोध उत्पन्न होता है। परन्तु यदि ऐसी तरकीब निकाल ली कि जिससे वह प्रतिहत

न हो तो फिर काम से क्रोध कैसे पैदा होगा ? इसका यह मतलब हुआ कि यह वाक्य कि काम से क्रोध पैदा होता है, सदा के लिये सत्य नहीं साबित होगा। काम में यदि कोई रुकावट न पड़ी तो फिर इस वाक्य की इमारत ढहने लगती है। इसलिए गाँधीजी ने इसपर एक और रास्ता निकाला है—"काम कभी पूरा होता ही नहीं" ऐसी टिप्पणी उन्होंने दी है। साधारणतः यह बात ठीक है। सारे संसार का अनुभव अवश्य है कि काम सहसा पूर्ण नहीं होता। वासना बढ़ती ही जाती है, तृप्ति कभी होती ही नहीं। दस हजार मिलें तो लाख की इच्छा होती है। लाख के बाद दस लाख की, व फिर करोड़ की इच्छा। गणित की संख्या का अन्त नहीं लगता। वासना का भी कोई अन्त नहीं। ययाति का यह वचन प्रसिद्ध ही है—"आहुति डाली हुई अग्नि की तरह भोग से काम सदा बढ़ता ही जाता है।" इस कारण गांधीजी की युक्ति वैसे लाजवाब मालूम होती है। परन्तु शंकराचार्य व उनकी तरकीब प्रायः एक सी मालूम होती है। यदि कामना का अन्त नहीं है तो कहीं-न-कहीं से उसमें बाधा पैदा होगी ही, वह जहां हुई नहीं कि क्रोध पैदा हुए बिना नहीं रहेगा—यह है शङ्कराचार्य का भाव। काम को गीता में 'अनल' कहा है। उसे कभी 'अलम्' अर्थात् 'बस' होता ही नहीं।

६७. एकनाथ का हल।

लेकिन इतने पर भी फजीहत से छुटकारा नहीं हो जाता। समझो कि किसी शख्स ने बाहरी परिस्थिति को अपनी कामना के अनुकूल बना लिया, या कामना को उसके अनुकूल कर लिया तो फिर क्रोध के लिए गुञ्जाइश कहाँ रही ? कामना

व परिस्थिति में जिस तरह मेल हो जाने से कामना में बाधा पैदा होने की सम्भावना कम हो गई, तो फिर काम से क्रोध पैदा होता है, इस वाक्य में बाधा आई ही न ? इस कठिनाई से एकनाथजी ने भागवत में एक और ही तरकीब निकाली है। वे कहते हैं—"काम या तो पूरा होगा या अधूरा रहेगा। अधूरा रहा तो क्रोध-पैदा होगा और पूरा हो गया तो लोभ को जन्म देगा। अतः क्रोध' शब्द का अर्थ क्रोध व लोभ मिलाकर व्यापक करना चाहिए।" फिर सम्मोह होगा, सो वह या तो क्रोध से होगा या लोभ से।। नरक के तीन दरवाजे बताते हुए गीता ने काम व क्रोध के साथ लोभ को जोड़ा ही है व अनुभूति भी ऐसी ही है कि काम से क्रोध व लोभ पैदा होते हैं।

६८. 'क्रोध' शब्द से यहां 'क्षोभ' समझना है।

परन्तु इस समस्या को हल करने का सच्चा तरीका दूसरा ही है। यहाँ हमें यह समझना है कि 'क्रोध' का एक विशेष अर्थ है। विषयों का ध्यास लगने से सङ्ग उत्पन्न होता है। 'सङ्ग' का अर्थ है विषय का साकार रूप ग्रहण करना। फिर वह कान्त, कमनीय लगने से उसे पाने की इच्छा होती है।

यह है काम जिसमें से क्रोध को अवश्यम्भावी कहा है। यह नहीं कहा कि कभी-कभी पैदा होता है। अतः यहाँ क्षोभ शब्द सामान्य अर्थ में नहीं आया है। क्रोध का स्थूल व हमारा परिचित अर्थ है गुस्सा, सन्ताप। यह यहाँ अभीष्ट नहीं, बल्कि चित्त का चलन अथवा क्षोभ है। 'क्रुध' धातु का मूल अर्थ तौलानिक भाषा-शास्त्र के अनुसार क्षोभ, खलबली ही है। इसके समानार्थक 'कुप' धातु का तो 'क्षोभ'

के अर्थ में संस्कृत में प्रायः सदा ही प्रयोग होता है। काम के उत्पन्न होते ही मन की स्वस्थता डिगने लगती है। मन में अप्रसन्नता उत्पन्न होती है। काम की पूर्ति चाहे हो वा न हो, उसके उत्पन्न होते ही चित्त की समता चली जाती है।

६९. क्रोध का अर्थ है क्षोभ अर्थात् चित्त की अप्रसन्नता।

इसके उल्टे तरह से जो परम्परा अन्वय पद्धति से बताई गई है उससे भी यही अर्थ निकलता है। आगे यह कहा गया है कि जिसने इन्द्रियों को जीत लिया है उसे प्रसन्नता प्राप्त होती है। इससे यह मालूम होता है कि यहाँ क्रोध शब्द प्रसन्नता के उल्टे अर्थ में आया है। काम कहते हैं मन की इस छटपटाहट को कि मुझे फलाँ चीज चाहिए। और यही अप्रसन्नता है। जबतक वह विषय प्राप्त नहीं हो जाता तब-तक मैं पूर्ण नहीं हूँ, उसके बगैर मुझमें कमी है। ऐसी निहीन-भावना कामना के मूल में रहती है। यही कारण है जो कामना से मन मलीन होता है। उसकी निर्मलता चली जाती है। संस्कृत में तो प्रसन्न शब्द निर्मल के अर्थ में बरता भी जाता है। साफ पानी को 'प्रसन्नम् जलम्' कहते हैं। जैसे सिंहगढ़ की देवटंकी का पानी। ऊपर से जब कंकड़ डालते हैं तो ठेंठ नीचे तह में पहुँचने तक उसकी सारी यात्रा साफ-साफ दिखाई देती है। प्रसन्नता का अर्थ है ऐसी निर्मलता व पारदर्शकता। वाल्मीकि जिस तीर्थ में स्नान के लिए गये थे उसके विषय में कहा है—"अकर्दमम् इदम् तीर्थम् सज्जनानां मनो यथा।" सज्जनों का चित्त सब तरह से खुला, निर्मल और प्रकट होता है जैसा कि ज्ञानदेव ने कहा है—'कोना कचरा नहीं जाने' वह अकर्दम होता है। 'कर्दम' कहते हैं मल को। मल होता है पानी के बाहर की

वस्तु। उसका रंग जहाँ पानी पर चढ़ा कि वह मटमैला हुआ। पानी जब असल की तरह बे-रंग होता है तो प्रसन्न रहता है। इसी तरह आत्मा जब अपने मूल स्वरूप में रहता है तो प्रसन्न रहता है। उसे बाहरी वस्तु की इच्छा होना, उसका रंग उसपर चढ़ने लगना उसका मैलापन है। यही अप्रसन्नता है। बाह्य कामना जहाँ आई कि मिश्रण हुआ। तब कामना का महत्त्व आत्मा को मालूम होने लगता है। उसके सामने वह स्वयं गौण हो जाता है, फीका पड़ जाता है। उसका मन चलित होने लगता है, अशान्ति, व्याकुलता मालूम होने लगती है। क्षोभ होता है। इसीको यहाँ 'क्रोध' कहा है। कामना से चित्त में जो स्पन्दन होता है वही यहाँ 'क्रोध' शब्द से सूचित किया गया है। आत्मा का मूल रूप प्रशान्त व निःस्पंद होता है। रात के नीरव, निर्भर और तारकित आकाश की तरह। अनन्त शुभ गुण ही मानो यहां के अनन्त तारे हैं।

७०. कामना से चित्त-क्षोभ क्यों होता है ?

आत्मा के परिपूर्ण और अनन्तगुणी होते हुए भी मनुष्य बाह्य वस्तु के लिए क्यों छटपटाता है? बाहर की इष्ट-प्राप्ति व अनिष्ट-परिहार की झञ्झट में वह पड़ता क्यों है? इसका कारण यह है कि मनुष्य के चित्त को आत्मा का दर्शन नहीं होता। केवल बहिर् दर्शन होता है। बाहरी सृष्टि का सौन्दर्य उसे लुभाता है। असौन्दर्य त्रास देता है। वस्तुतः सौन्दर्य अथवा असौंदर्य बाह्य वस्तु में नहीं है। वहाँ तो आकार-मात्र है। तद्विषयक अनुकूल-प्रतिकूल वृत्ति मुख्यतः चित्त की करनी है। चित्त इन्द्रियाधीन है। गधे की आवाज हमारे कानों को कर्कश मालूम होती है, इससे चित्त भी उसे

कर्कश समझता है। परन्तु वास्तव में वह न तो मधुर है, न कर्कश। वह जैसा है, वैसा है। हमारे कानों को यद्यपि वह बुरा लगता है, तो भी गधे के कानों को तो आनन्ददायी ही मालूम होता होगा। मुझे संगीत का शौक है, परन्तु जब मैं यह विचार करने लगता हूँ कि यह आवाज मधुर व यह कर्कश है तब क्या मैं वास्तव में आवाज पर ही अपनी तरफ से आरोप नहीं कर रहा हूँ? मैं यह नहीं कहता कि खुद आवाज मिथ्या है। नहीं तो कोई मार्क्सवादी मेरे पीछे पड़ जायगा। कहेगा—'क्या इस सारी सृष्टि को ही कल्पना-प्रसूत कहते हो?' लेकिन मेरा यह कहना नहीं है। सृष्टि सच्ची ही है। वह मैंने अपनी कल्पना से बनाई नहीं है, इसीलिए तो मैं कहता हूँ कि वह ईश्वर की बनाई है। परन्तु उसके सम्बन्ध में जो कल्पना, खयाल है, वह मेरा है, अर्थात् मेरे इन्द्रियाधीन चित्त का है। इस तरह मैं सृष्टि के भिन्न-भिन्न पदार्थों के विषय में अनुकूल या प्रतिकूल वृत्ति बनाता हूँ। वह क्षोभ का कारण होती है। जब यह बात समझ में आ जायगी कि आत्मा परिपूर्ण है, तो मनुष्य का चित्त सन्तुष्ट व प्रसन्न रहेगा। उसे किसी भी प्रकार की कमी न खटकेगी। वह कहेगा, मैं बाह्य वस्तु के पीछे पड़कर, उसके लिए व्याकुल होकर, परतन्त्र क्यों बनूं? वह वस्तु क्यों नहीं मेरी अभिलाषा करती है? मैं ही क्यों उसके लिये व्याकुल होकर अपने चित्त को खराब करूं? वह अपनी ऐंठ में चूर है तो मैं क्यों न अपनी ऐंठ में चूर रहूँ? बाह्य वस्तु की अभिलाषा करते रहने से आत्मा न्यूनता को प्राप्त होता है और इससे चित्त क्षुब्ध होता है। चित्त की इस क्षुब्धता को ही यहां क्रोध कहा है।

(२)

७१. क्रोध से मोह होता है, अर्थात् बुद्धि भोंटी होती है।

क्रोधात् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृति-विभ्रमः।
स्मृति-भ्रंशात् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥

क्रोध से मन मूढ़ हो जाता है—"क्रोधात् भवति सम्मोहः।" बचपन में मैं कहा करता था—'भरपेट गुस्सा होकर भी मेरी बुद्धि ज्यों-की-त्यों साबित रहती है।' क्रोध से बुद्धि की समता नष्ट होती है, इसका भी होश नहीं रहता, यही इस बात का लक्षण है कि बुद्धि ठिकाने नहीं है। मोह का अर्थ यह नहीं है कि बुद्धि की सारी ही शक्ति नष्ट हो जाय। बुद्धि की प्रखरता का चला जाना व उसका भोंटा पड़ जाना ही मूढ़ता का अर्थ है। ऐसी स्थिति में मनुष्य का कर्तव्य-निर्णय गड़बड़ में पड़ जाता है; यही सम्मोह है।

७२. मोह से स्मृति-भ्रंश होता है, अर्थात् यह होश नहीं रहता कि हम कौन हैं?

इस तरह सम्मोह होने पर स्मृति-भ्रंश होता है। स्मृति-भ्रंश का अर्थ मामूली विस्मृति नहीं। बल्कि इस बात का विस्मरण कि 'मैं कौन हूँ' स्मृति-भ्रंश है। बहुत-सी बातों का याद रहना 'स्मृति' नहीं है। मैं जो कुछ बोलता हूँ उसे अक्षरशः ज्यों-का-त्यों किसीने दुहराकर बता दिया तो उसे मैं जड़-यन्त्र कहूँगा। जो भूल जाने लायक है उसे भूलने की व जो याद रखने लायक है उसे याद रखने की विवेक-शक्ति उसके पास नहीं है। सच्ची स्मृति में यह विवेक गृहीत है। सब बातों को याद रख के उसका बोझ वह क्यों उठावे? विवेक का उपयोग करके कुछ रख लेना चाहिए व कुछ छोड़ देना चाहिए। उचित स्मरण व उचित विस्मरण मिलाकर सम्यक्

स्मरण-शक्ति होती है। अतः यहां पर स्मृति का अर्थ है—मैं कौन हूँ, इसका निरन्तर भान, आत्मा का निरन्तर भान।

७३. भान नहीं इसका अर्थ क्या ?

मनुष्य वार-वार आत्मा को भूलता रहता है। खेल के मैदान में जाकर वह कहता है, मैं खिलाड़ी हूँ। लड़ाई के मैदान में कहता है, मैं योद्धा हूँ। लड़के को देखते ही कहता है, मैं वाप हूँ। यह सदा भूल जाता है कि मैं तो केवल, रंगरहित उपाधिवर्जित, परिशुद्ध आत्मा हूँ। जिस परिस्थिति में जाता है उसी रंग का हो जाता है, इसे कहेंगे स्मृतिभ्रंश। यों व्यवहार में भी हम स्मृतिभ्रंश का यही लक्षण मानते हैं। जव कोई मनुष्य अपने होश-हवास भूलकर अण्टशंट वड़वड़ाने लगता है तो हम कहते हैं, इसका दिमाग ठिकाने नहीं रहा, इसे भ्रम हो गया है। यही स्मृतिभ्रंश है। नदियां कितनी ही उमड़-उमड़कर व वढ़-वढ़कर समुद्र में जाकर गिरें तो भी समुद्र शान्त ही रहता है। उनके सूख जाने पर भी वह सूखता या घटता नहीं। अपनी गंभीरता व शान्ति छोड़कर वह यदि नदियों के पीछे दौड़ने लगा तो उसे हम क्या कहेंगे ? यही कहेंगे न कि समुद्र अपने आप को भूल गया ? यही वात हमारी है। मैं सारी सृष्टि का साक्षी हूँ। वह चाहे तो भले ही मेरे पीछे लगे। मैं नहीं उसके चक्कर में पड़ूंगा ! मैं परिपूर्ण हूँ, मुझे किसी वात की कमी नहीं—यह भान ही स्मृति है। परिपूर्ण होते हुए भी अपूर्णता का भास होना स्मृतिभ्रंश है। स्वप्न में किसी राजा को यह दिखाई दिया कि मैं भीख मांग रहा हूँ, तो हम कहेंगे कि वह अपने राजापन को भूलगया, वैसी ही यह दशा है।

७४. स्मृतिभ्रंश से बुद्धिनाश।

इस तरह मनुष्य जब अपने होश-हवास खो बैठता है तो उसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है। अर्थात् वह विषयाधीन हो जाती है। बुद्धि जब विषयाधीन या विषयनिष्ठ हो जाती है तो वह अपनी मूल-स्थिति खो बैठती है। बुद्धि की मूल-स्थिति का नष्ट होना ही बुद्धिनाश कहलाता है। मनुष्य जब अपने स्वरूप को भूल जाता है तो उसकी बुद्धि अपने मूलस्थान से भ्रष्ट हो जाती है। 'स्मृति-भ्रंशात् बुद्धि-नाशः'। बुद्धि के मानी हैं ज्ञान-शक्ति। आत्मा को जानने का सामर्थ्य वही रखती है। उस बुद्धि का उपयोग साधारण विषय-रस की विचिकित्सा में करना मानो उसका अधिकार ही छीन लेना है। मां ने अपने बच्चे की उंगली में सोने की अंगूठी पहना दी। वह जाकर दो पेड़ों के लिए हलवाई की दूकान पर बेंच आया। वैसी ही बात यह हुई। बुद्धि एक सर्वकान्तिमय, सर्वप्रभावती शक्ति है। विचार के बराबर प्रभा, विचार के समान तेज दूसरी किसी भी वस्तु में नहीं। ऐसी विचारसमर्थ बुद्धि को ऐसे विषय में खर्च करना मानो उसका नाश करना ही है। आत्मा का ज्ञान प्राप्त कर लेना बुद्धि का खास सामर्थ्य है। किन्तु जब बुद्धि विषय-निष्ठ हो जाती है तो वह उस सामर्थ्य से हाथ धो बैठती है। यह उसका नाश नहीं तो क्या है। जिस बुद्धि ने आत्मनिष्ठता खो दी है वह यों चाहे कितनी ही सतेज क्यों न दिखाई दे, वास्तव में यही समझना चाहिए कि उसने अपना नाश कर लिया है।

आठवाँ व्याख्यान

(१)

७५. पिछले विवेचन का सार: बुद्धिनाश ही विनाश की अन्तिम सीढ़ी।

इन्द्रिय-निरोध का प्रज्ञा से क्या सम्बन्ध है यह बात 'न'-कार से व 'ह'-कार से, 'व्यतिरेक' से व 'अन्वय' से समझा रहे हैं। विषयचिन्तन से लेकर बुद्धि-नाश तक की परम्परा व्यतिरेक द्वारा बताई। इसका सिलसिला ठेठ बुद्धि-नाश तक जा पहुँचता है। इसके विपरीत, अन्वय-परम्परा दिखलाते हुए, यह बतायेंगे कि बुद्धि की स्थिरता यह आखिरी मंजिल है। उधर आखिरी सीढ़ी है बुद्धि की स्थिरता, इधर अन्तिम है बुद्धि का नाश। आगे जो 'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति' कहा गया है वह इसलिए नहीं कि बुद्धि-नाश के बाद अब और कोई सीढ़ी दिखाना बाकी रह गया है। बल्कि वह वाक्य तो बुद्धिनाश की भयंकरता दिखाने के लिए ही कहा गया है। बुद्धि गई तो सब कुछ चला गया। उसे आत्मनाश ही कहिए न। अब और कुछ नष्ट होना बाकी नहीं रहा है—यह उसका अर्थ है। इसका खुलासा आगे हो जायगा।

७६. गीता को शब्दों के सूक्ष्म अर्थ ही अभिप्रेत हैं।

हमने इस श्लोक के सभी पदों का सूक्ष्म अर्थ किया है।

७४. स्मृतिभ्रंश से बुद्धिनाश।

इस तरह मनुष्य जब अपने होश-हवास खो बैठता है तो उसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है। अर्थात् वह विषयाधीन हो जाती है। बुद्धि जब विषयाधीन या विषयनिष्ठ हो जाती है तो वह अपनी मूल-स्थिति खो बैठती है। बुद्धि की मूल-स्थिति का नष्ट होना ही बुद्धिनाश कहलाता है। मनुष्य जब अपने स्वरूप को भूल जाता है तो उसकी बुद्धि अपने मूलस्थान से भ्रष्ट हो जाती है। 'स्मृति-भ्रंशात् बुद्धि-नाशः' । बुद्धि के मानी हैं ज्ञान-शक्ति। आत्मा को जानने का सामर्थ्य वही रखती है। उस बुद्धि का उपयोग साधारण विषय-रस की विचिकित्सा में करना मानो उसका अधिकार ही छीन लेना है। मां ने अपने बच्चे की उंगली में सोने की अंगूठी पहना दी। वह जाकर दो पेड़ों के लिए हलवाई की दूकान पर बेंच आया। वैसी ही बात यह हुई। बुद्धि एक सर्वकान्तिमय, सर्वप्रभावती शक्ति है। विचार के बराबर प्रभा, विचार के समान तेज दूसरी किसी भी वस्तु में नहीं। ऐसी विचारसमर्थ बुद्धि को ऐसे विषय में खर्च करना मानो उसका नाश करना ही है। आत्मा का ज्ञान प्राप्त कर लेना बुद्धि का खास सामर्थ्य है। किन्तु जब बुद्धि विषय-निष्ठ हो जाती है तो वह उस सामर्थ्य से हाथ धो बैठती है। यह उसका नाश नहीं तो क्या है। जिस बुद्धि ने आत्मनिष्ठता खो दी है वह यों चाहे कितनी ही सतेज क्यों न दिखाई दे, वास्तव में यही समझना चाहिए कि उसने अपना नाश कर लिया है।

आठवाँ व्याख्यान

(१)

७५. पिछले विवेचन का सार: बुद्धिनाश ही विनाश की अन्तिम सीढ़ी।

इन्द्रिय-निरोध का प्रज्ञा से क्या सम्बन्ध है यह बात 'न'-कार से व 'हं'-कार से, 'व्यतिरेक' से व 'अन्वय' से समझा रहे हैं। विषयचिन्तन से लेकर बुद्धि-नाश तक की परम्परा व्यतिरेक द्वारा बताई। इसका सिलसिला ठेठ बुद्धि-नाश तक जा पहुँचता है। इसके विपरीत, अन्वय-परम्परा दिखलाते हुए, यह बतायेंगे कि बुद्धि की स्थिरता यह आखिरी मंजिल है। उधर आखिरी सीढ़ी है बुद्धि की स्थिरता, इधर अन्तिम है बुद्धि का नाश। आगे जो 'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति' कहा गया है वह इसलिए नहीं कि बुद्धि-नाश के बाद अब और कोई सीढ़ी दिखाना बाकी रह गया है। बल्कि वह वाक्य तो बुद्धिनाश की भयंकरता दिखाने के लिए ही कहा गया है। बुद्धि गई तो सब कुछ चला गया। उसे आत्मनाश ही कहिए न। अब और कुछ नष्ट होना बाकी नहीं रहा है—यह उसका अर्थ है। इसका खुलासा आगे हो जायगा।

७६. गीता को शब्दों के सूक्ष्म अर्थ ही अभिप्रेत हैं।

हमने इस श्लोक के सभी पदों का सूक्ष्म अर्थ ि

कहते हैं और तर्कशक्ति के साथ जिसके विकास का प्रयत्न पाठशालाओं में किया जाता है। व्यवहार में मनुष्य का भुलक्कड़ होना नहीं चल सकता। वह याददाश्त में पक्का होना चाहिए। तमोगुण में लीन मनुष्य भुलक्कड़ हो जाता है इससे वह व्यवहार में कुशल नहीं होता। इतना तमोगुण न हो तो वह व्यवहारोपयोगी स्मरण रख सकता है। इतना ही उस स्मरण-शक्ति का कार्य है। परन्तु हृदय-ग्रन्थि खोलने की अपेक्षा इस स्मरणशक्ति से कोई भी नहीं रखेगा। उपनिषद् और गीता ने जिस स्मृति का उल्लेख किया है वह शक्ति नहीं, बल्कि चित्त की एक अवस्था है। आत्मा का नित्य स्मरण रहना उसका स्वरूप है। जब आत्मा का नित्य स्मरण रहेगा तो फिर दूसरे संस्कार हमारे चित्त पर चाहे कितना ही जोर का हमला करें उनका सिक्का उसपर नहीं जम सकता। उन संस्कारों के हमलों का मुकाबला करने के लिए जो बुद्धि आत्म-स्मृति-रूपी ढाल को लेकर सतत तैयार रहती है, उसे आत्मदर्शन होना बिल्कुल निश्चित है।

७८. आत्मस्मृति के अभाव में संस्कार-पराधीनता।

इसके विपरीत जहां आत्म-विस्मृति है उसके चित्त पर बाहरी संस्कारों के ठप्पे पड़ जाते हैं। छोटे बच्चे के मन पर कोई भी संस्कार तुरंत जम जाता है। हम कहते हैं, छोटे बच्चे का कदम स्वच्छ होता है, सुकुमार होता है। किसी भी संस्कार को वह तुरंत ग्रहण कर लेता है। परंतु इसका कारण यह कि छोटे बच्चों में आत्मविस्मृति पूर्णरूप से होती है।

इसके बजाय यदि स्थूल अर्थ ही ले लें तो मनुष्य का समाधान बहुत थोड़े में हो जायगा। थोड़े में ही वह अपने को 'स्थित-प्रज्ञ' हुआ समझने लगेगा। उपनिषद् के एक समानार्थक वचन से भी यही जाना जा सकता है कि गीता के मन में स्थूल नहीं बल्कि सूक्ष्म अर्थ ही समाया हुआ है। वह वचन यह है— "आहार-शुद्धौ सत्वशुद्धिः, सत्व-शुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः, स्मृति-लम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः" इसका अर्थ—आहार शुद्ध होने से चित्त की शुद्धि होती है, उससे अविचल स्मृति-लाभ होता है। स्मृति-लाभ से मनुष्य के चित्त की सब गाँठें खुल जाती हैं।" यहां आहार शब्द का अर्थ सिर्फ 'अन्न' ही नहीं, बल्कि सभी इन्द्रियों का आहार ऐसा लेना चाहिए। गीता के 'निराहार' शब्द का भी हमने ऐसा ही अर्थ किया है। पहले हमने भक्ति-मार्ग की जो विशुद्ध प्रक्रिया देखी है, सो यही है। अशुद्ध आहार को छोड़कर सब इन्द्रियों को शुद्ध आहार कराते जायं तो उससे चित्त की या बुद्धि की शुद्धि होती है। ऐसा होने से 'ध्रुवा स्मृति' प्राप्त होती है, अपना भान स्थिर रहता है और फिर चित्त की सब गांठें खुल जाती हैं। हमारे मन में भिन्न-भिन्न विचार-संस्कार की ग्रन्थियाँ या गांठें होती हैं। इन्हें अंग्रेजी में 'काम्प्लेक्स' कहते हैं। बुद्धि शुद्ध होने का अर्थ है इन सब गांठों का खुल जाना। इन गांठों के खुल जाने पर बुद्धि मुक्त, स्वतन्त्र हो जाती है। आईने की तरह साफ हो जाती है और फिर उसमें आत्मा का प्रतिबिम्ब झलकने लगता है।

७७. स्मृति बनाम स्मरण-शक्ति।

इतना सारा कार्य यहां 'स्मृति-लाभ' से अपेक्षित है। अतः 'स्मृति' शब्द का अर्थ यहां साधारण 'स्मरण-शक्ति' नहीं कर सकते। मामूली स्मरणशक्ति वह है जिसे अंगरेजी में 'ममरी'

कहते हैं और तर्कशक्ति के साथ जिसके विकास का प्रयत्न पाठशालाओं में किया जाता है। व्यवहार में मनुष्य का भुलक्कड़ होना नहीं चल सकता। वह याददाश्त में पक्का होना चाहिए। तमोगुण में लीन मनुष्य भुलक्कड़ हो जाता है इससे वह व्यवहार में कुशल नहीं होता। इतना तमोगुण न हो तो वह व्यवहारोपयोगी स्मरण रख सकता है। इतना ही उस स्मरण-शक्ति का कार्य है। परन्तु हृदय-ग्रन्थि खोलने की अपेक्षा इस स्मरणशक्ति से कोई भी नहीं रखेगा। उपनिषद् और गीता ने जिस स्मृति का उल्लेख किया है वह शक्ति नहीं, वल्कि चित्त की एक अवस्था है। आत्मा का नित्य स्मरण रहना उसका स्वरूप है। जब आत्मा का नित्य स्मरण रहेगा तो फिर दूसरे संस्कार हमारे चित्त पर चाहे कितना ही जोर का हमला करें उनका सिक्का उसपर नहीं जम सकता। उन संस्कारों के हमलों का मुकावला करने के लिए जो बुद्धि आत्म-स्मृति-रूपी ढाल को लेकर सतत तैयार रहती है, उसे आत्मदर्शन होना बिल्कुल निश्चित है।

७८. आत्मस्मृति के अभाव में संस्कार-पराधीनता।

इसके विपरीत जहां आत्म-विस्मृति है उसके चित्त पर बाहरी संस्कारों के ठप्पे पड़ जाते हैं। छोटे बच्चे के मन पर कोई भी संस्कार तुरंत जम जाता है। हम कहते हैं, छोटे बच्चे का कदम स्वच्छ होता है, सुकुमार होता है। किसी भी संस्कार को वह तुरंत ग्रहण कर लेता है। परंतु इसका कारण यह भी है कि छोटे बच्चों में आत्मविस्मृति पूर्णरूप से होती है। इससे, बाहर की प्रत्येक बात उसके चित्त पर अंकित हो जाती है और हम उस चित्त की संस्कारार्ह, संस्कार-सुलभ कहकर स्तुति करते हैं। परन्तु संस्कार यदि अच्छे होंगे तो वह अच्छा

बनेगा, बुरे होंगे तो बुरा बनेगा। जैसे संस्कार होंगे वैसे ही उसपर अंकित होंगे। इस दृष्टि से संस्कार-सुलभता को चित्त की भयानक दशा भी कहना होगा। जब यह कहा जाता है कि ज्ञानी का मन छोटे बच्चे की तरह होता है तब उसका अर्थ यह नहीं होता कि वह संस्कार-सुलभ है, बल्कि यह होता है कि वह बच्चे के हृदय की तरह अकृत्रिम निर्दम्भ, खुला, सहज होता है। हृदय में जब आत्मस्मृति का अखण्ड जाग्रत-पहरा होता है तब उसे दूसरे संस्कारों का भय नहीं रहता। ऐसा व्यक्ति यदि चौराहे में जाकर बैठ जाय तो भी वह अपनी जगह पर ही स्थित है। उसे कहीं भी डर नहीं रहता। वह रक्षण से परे हो गया है। आत्मस्मृति के निरन्तर जाग्रत रहने से उसे अपने लिए बचाव की या बाड़ की जरूरत ही नहीं। नीति-शास्त्र के नियमों की बाड़ साधारण चित्त की रक्षा के लिए जरूरी होती है, वह स्थिति यहाँ नहीं है। जब आत्म-विस्मृति हो जाती है तो फिर बुद्धि बाहर के प्रहारों की पात्र हो जाती है। इससे उसे बाहर के कृत्रिम संरक्षण की जरूरत महसूस होती है। परन्तु आत्म-स्मृति के अभाव में ये सब संरक्षण निरर्थक, बेकार भी साबित हो सकते हैं।

७९. गीता-श्रवण का फलित मोह-नाश और तज्जन्य स्मृति-लाभ।

यहाँ 'स्मृति' शब्द का अर्थ आत्म-स्मृति करना ही उचित है। इसके लिए और भी एक प्रमाण दिया जा सकता है। यहां सम्मोह से स्मृति-भ्रंश और स्मृति-भ्रंश से बुद्धिनाश ऐसी परम्परा बताई गई है। अब यदि इसकी विपरीत परम्परा ठीक-ठीक लगाई जाय तो वह कैसी बनेगी? इसका चित्र

सामने खड़ा होने पर इन शब्दों के अर्थ पर प्रकाश पड़ जायगा। इसकी उलटी परम्परा होगी—मोहनाश होने से स्मृति-लाभ और स्मृति-लाभ से बुद्धि का सन्देह नष्ट होकर उसका स्थिर होना। गीता-श्रवण के अन्त में अर्जुन ने उस समय की अपनी स्थिति का वर्णन करते हुए विल्कुल इन्हीं शब्दों में वह सिलसिला दिखाया है। वह कहता है— "नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा''स्थितोऽस्मि गतसन्देहः" गीता-श्रवण से मेरा मोह चला गया, मुझे स्मृति-लाभ हुआ, मेरा सब सन्देह चला गया। अब यह देखने से कि अर्जुन को किस प्रकार का सन्देह हुआ था 'मोह' शब्द का और उसके साथ ही 'स्मृति' शब्द का भी अर्थ समझ में आ जायगा।

८०. 'मोहनाश' का अर्थ है कर्त्तव्य का खुलासा।

ऐसा मालूम होता है कि अर्जुन को अपने कर्तव्य-अकर्तव्य के सम्बन्ध में मोह पैदा हो गया था। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि यहां 'मोह' का अर्थ कर्तव्य-मोह ही करना चाहिये। यह मोह अर्जुन को किस कारण से हुआ था ? इस युद्ध में मुझे सब अपने ही लोगों को मारना पड़ेगा— इस खयाल से उसका मन भौंचक्का हो गया था। उसके चित्त की व्यवस्थिति स्वस्थता नष्ट हो गई। उसमें हलचल खड़ी हो गई। 'ये मेरे' व 'ये पराये' इस विचार से उसका मन क्षुब्ध हो गया। जब किसी कच्चे दिल के न्यायाधीश के सामने खुद उसीका लड़का मुल्जिम बनाकर पेश किया जाता है तो उसके मन में यह भावना पैदा होने लगती है कि मेरा बेटा बच जाय तो कैसा ? अपने कर्त्तव्य-अकर्तव्य के विषय में उसका मन शंकाशील, डांवाडोल हो जाता है। वह इधर-से-उधर डोलने

लगता है। वह अनेक-धा होने लगता है। यह सूझ नहीं पड़ता कि क्या करें? ऐसी स्थिति अर्जुन की हो गई थी। अर्जुन ने गीता के प्रारम्भ में अपने संबन्ध में ऐसा ही कहा है—"पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढ़चेताः" 'मेरी बुद्धि संमोह से ग्रस्त हो गई है। मुझे सूझ नहीं पड़ता कि क्या करूं? इसलिए मैं आपकी शरण आया हूँ।' इससे यह सिद्ध होता है कि अर्जुन को अपने कर्त्तव्य के सम्बन्ध में मोह हो गया था। यही गीता की मूल भूमिका है। अतः यह स्पष्ट है कि उसमें मोह का जो अर्थ है वही यहां स्थित-प्रज्ञ के प्रकरण में भी ग्रहण करना चाहिए।

८१. इसी सिलसिले में क्रोध के अर्थ के विषय में भी विचार।

जब इस बात का विचार करते हैं कि अर्जुन को मोह कैसे पैदा हुआ तो इसी सिलसिले में यह बात भी याद रखने लायक है कि इससे 'क्रोध' शब्द के अर्थ का भी स्पष्टीकरण हो जाता है। अर्जुन को मोह तो जरूर हुआ, पर उसे स्थूल अर्थ में 'क्रोध' नहीं आ गया था। वह गुस्सा नहीं हो गया था, सन्तप्त नहीं हो गया था। उसे इस बात पर विषाद हुआ कि ये मेरे ही अपने लोग मुझसे लड़ने के लिये तैयार खड़े हैं, और इससे उसे कर्तव्य-मोह उत्पन्न हुआ। परंतु गीता कहती है कि क्रोध से मोह पैदा होता है। अर्थात् गीता की दृष्टि में विषाद और क्रोध पर्य्यायवाची ही मालूम होते हैं। यह विषाद शब्द ध्यान देने जैसा है। प्रसन्नतासूचक तीन अक्षरी 'प्र-सा-द' शब्द के बिलकुल उलटे अर्थवाला तीन अक्षरी 'वि-षा-द' शब्द है। और क्रोध का भी स्वरूप हम ऐसा ही प्रसन्नता-विरोधी देख चुके हैं। इस अर्थ में क्रोध व विषाद दोनों शब्द क्षोभ-

सूचक सिद्ध होते हैं।

८२. 'स्थितोऽस्मि गतसन्देहः' अर्थात् मैं स्थितप्रज्ञ हो गया।

इस प्रकार के क्षोभ से अर्जुन के मन में कर्त्तव्याकर्त्तव्य के विषय में मोह उत्पन्न हुआ और अर्जुन कहता है कि ईश्वर की कृपा से गीता-श्रवण का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ जिससे मेरा मोह नष्ट हो गया। फिर मोह के चले जाने से मुझे स्मृति-लाभ हुआ और मेरे सारे सन्देह चले गये—इस तरह ठेठ उपनिषदों की भाषा में उसने भरोसा दिलाया है। इससे स्मृति शब्द के अर्थ पर साफ प्रकाश पड़ जाता है। 'मेरे सब सन्देह छिन्न हो गये' इसका अर्थ ऐसा ही लेना चाहिए—बुद्धि की मेरी सब गांठें खुल गईं, बुद्धि स्थिर हो गई, मैं स्थित-प्रज्ञ हो गया। ऐतिहासिक अर्जुन के चक्कर में पड़कर हमें इन वचनों का अर्थ गौण समझना ठीक न होगा। उचित तो यही है कि हम किसी भी व्यक्ति का विचार न करते हुए शब्दों का यथाश्रुत सूक्ष्म अर्थ ग्रहण करें। मनुष्य की बुद्धि में ऐसा सहज गुण है कि वह ठेठ जड़ तक जाकर शब्द का सूक्ष्म, अन्तिम व व्यक्ति-निरपेक्ष अर्थ ले सकती है और उसीमें मानव का श्रेय है। अर्जुन के 'स्थितोऽस्मि' ये शब्द भी सूचक हैं। 'स्थित' शब्द से 'स्थितप्रज्ञ' की याद आ ही जानी चाहिए।

(२)

८३. नारद के सुझाव के अनुसार शब्दों के स्थूल अर्थ भी अपनी भूमिका के अनुसार लिये जा सकते हैं।

परन्तु यदि हम शब्दों के ऐसे सूक्ष्म ही अर्थ करेंगे तो जन-साधारण के लिए वे उतने उपयोगी न हो सकेंगे। अच्छा, यदि हम अपनी ब्योंत का ही मर्यादित अर्थ करें तो पहले

बताये अनुसार थोड़े में सन्तोष पाने लगेंगे, जिससे आगे की प्रगति ही रुक जायगी। अतः जरूरत के माफिक दोनों तरह के अर्थ ग्रहण करने चाहिएं। नारद ने भक्ति-सूत्रों में इन शब्दों के स्थूल अर्थ किये हैं। उनके सूत्र हैं—"दुःसंगः सर्वथैव त्याज्यः। काम-क्रोध-मोह-स्मृतिभ्रंश-बुद्धिनाश-सर्वनाश कारणत्वात्। तरंगायिता अपीमे संगात् समुद्रायन्ति। इसका अर्थ है—कुसंगति को सब तरह से छोड़ना चाहिए; क्योंकि उससे काम, क्रोध, मोह, स्मृतिभ्रंश, इस परंपरा से बुद्धिनाश व सर्वनाश हो जाता है। मनुष्य के मन में ये विकार असल में तरंग की तरह अल्प हों तब भी वे कुसंग से समुद्र की तरह विशाल हो उठते हैं। नारद के इन सूत्रों के अनुसार इन श्लोकों का सबको अपनी-अपनी भूमिका देखकर लेकिन प्रगतिशील अर्थ यथासम्भव कर लेना चाहिए।

८४. बुद्धिनाश परम्परा के विभाजन का रहस्य : पहले मन पर आक्रमण फिर बुद्धि पर।

इन दो श्लोकों का थोड़ा और पृथक्करण कर लेना ठीक होगा। पहले श्लोक में "ध्यायतो विषयान् पुंसः" से शुरुआत करके "कामात् क्रोधोऽभिजायते" यहां खतम किया है। अगले श्लोकों में "क्रोधात् भवति सम्मोहः" से लेकर बुद्धिनाश तक का भाग बताया है। यह ऐसा विभाजन क्यों किया? इसमें कोई योजना तो नहीं है? मनुष्य के चित्त के दो भाग हैं—मन और बुद्धि। पहले श्लोक में यह बताया गया कि विषयचिन्तन के फलस्वरूप मन पर उसका कैसा आक्रमण होता है। दूसरे श्लोक में इस बात का निरूपण किया गया है कि बुद्धि पर उसका प्रहार किस रूप में होता है। पहलेपहल विषयों का प्रहार मन पर होता है, सीधा बुद्धि पर

नहीं। इससे मनके विकारयुक्त हो जाने पर भी बुद्धि सही-सलामत रहती है, ऐसा भास हो सकता है। परन्तु वह अधिक समय तक नहीं टिक सकेगा। अतः समय पर ही सावधान होकर मन पर हमला होते ही उसे खदेड़ देना चाहिए। यों देखा जाय तो पहला धावा इन्द्रियों पर ही होता है। वह विषयों का पहला किला है। वहां से उनका हमला लौटा देना चाहिए। आगे चलकर तीसरे अध्याय में इसका अधिक विवेचन किया गया है। "इन्द्रियाणि मनोबुद्धिः अस्याधिष्ठानमुच्यते।" इन्द्रियां, मन व बुद्धि ये कामना के आश्रयरूप तीन किले हैं। इन्द्रियां सबसे बाहरी किला है। इस-लिए लड़ाई का आरम्भ इन्द्रियों से ही करना पड़ता है। यह हम पहले ही देख चुके हैं।

नौवां व्याख्यान

(१)

८५. स्थिर-बुद्धि की परम्परा का आरम्भ : रागद्वेष छोड़ कर इन्द्रियों का उपयोग करने वाला प्रसाद पाता है।

विषय-चिंतन से शुरू होने वाली बुद्धि-नाश की परम्परा खतम हो गई। अब अगले दो श्लोकों में इससे उलटी परम्परा बताते हैं। बुद्धि-नाश की इस परम्परा से हमको यह शिक्षा मिली कि इंद्रिय-जय का अर्थ स्थूल व सूक्ष्म दोनों रूप में ग्रहण करना चाहिए। तभी बुद्धि की रक्षा होगी। तो यहाँ यह प्रश्न खड़ा होगा कि फिर क्या आत्मज्ञानी पुरुष अपनी इंद्रियों के तमाम व्यापार ही बंद कर दें ? इसी प्रश्न का उत्तर अब आगे दिया जाता है।

रागद्वेष-वियुक्तैस्तु विषयान् इन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर् विधेयात्मा प्रसादं अधिगच्छति ॥

अर्थ—"विषयों-सम्बन्धी वैराग्य स्थिर हो जाने पर इन्द्रियां हमारे अधीन हो जाती हैं। इन स्वाधीन इन्द्रियों के द्वारा विषयों का सेवन करने वाला पुरुष प्रसाद अर्थात् प्रसन्नता पाता है।" इसका आशय यह है कि ज्ञानी मनुष्य ही निर्भयता से इन्द्रिय-व्यवहार कर सकता है। जिनकी सत्ता इन्द्रियों पर नहीं चलती, उनके लिए खतरा है। जिनके लिए भय है उन्हें

अलबत्ता निर्भय की तरह न विचरना चाहिए। इन्द्रियों के व्यापार से राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं। यह खतरा जिसने हटा दिया वह व्यक्ति इन्द्रियों के सभी उचित व्यापार करेगा। बल्कि उसकी दृष्टि में तो सभी व्यवहार आध्यात्मिक ही हो जायेंगे। इतना ध्यान जरूर रखना चाहिए कि इन्द्रियों को अपनी खूराक देते हुए राग-द्वेष उत्पन्न न हों। प्रसन्नता-प्राप्ति के लिए इन्द्रिय-जय आवश्यक है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि हम इन्द्रियों से कुछ काम ही न लें। और इन्द्रियों से यदि कोई काम ही न लेना हो तो फिर इन्द्रिय-जय की जरूरत भी नहीं रहेगी। असल बात यह है कि हम इन्द्रियों के अधीन न हों। चाकू इस्तेमाल करना और चाकू के अधीन होना—दोनों में फर्क है। चाकू से पेन्सिल छीलना चाकू इस्तेमाल करना है। उंगली पर चलाकर हाथ ही छील लेना चाकू के अधीन हो जाना है। इन्द्रियों का उपयोग भगवान् की सेवा में करना चाकू से पेन्सिल छीलने जैसा है। परन्तु उनके वश में होकर बुद्धि-नाश कर लेना चाकू से उंगली काट लेना है।

८६. दोनों परम्पराओं की मुख्य सीढ़ियां : बीज, शक्ति, फलित।

बुद्धि-नाश की परम्परा जैसी तफसील से बताई है वैसी उलटी परम्परा सविस्तर नहीं बताई है। एक परम्परा यदि व्यवस्थित रूप से बता दी गई है तो उसमें दूसरी अपने आप आ जाती है। फिर परम्परा की सारी सीढ़ियां एक-सा महत्त्व नहीं रखतीं। और आदि, मध्य, अन्त अथवा शास्त्रीय भाषा में कहें तो बीज, शक्ति और फलित—इन तीन सीढ़ियों को याद रखें तो काफी है। विषय-चिन्तन बीज है। उससे अप्रसन्नता या चित्त-चलन (मैं 'क्रोध' शब्द को छोड़ ही देता हूँ)

यह शक्ति हुई और बुद्धि-नाश हुआ फलित। इसके विपरीत क्रम में विषयों से राग-द्वेष उत्पन्न न होने देना बीज, प्रसन्नता शक्ति और बुद्धि की स्थिरता यह फलित हुआ। तीन मुख्य सीढ़ियां बता दी गई हैं—उनके आधार पर परिपूर्ण परम्परा बिठाई जा सकती है।

८७. 'प्रसाद' शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में गलतफहमी।

'प्रसाद' शब्द के अर्थ पर बहुत कुछ विचार किया, फिर भी वह कुल मिलाकर गलतफहमी बढ़ाने वाला हो गया है। उसका अर्थ 'प्रसन्नता' करने से भी गलतफहमी दूर नहीं होती। प्रसन्नता का अर्थ आजकल उल्लास, आनन्द किया जाता है। परन्तु दरअसल प्रसाद अथवा प्रसन्नता का अर्थ उल्लसित वृत्ति या हर्ष नहीं है। प्रसाद का अर्थ है न विषाद और न हर्ष ही। परन्तु लोग उसका अर्थ प्रायः हर्ष ही करते हैं। तुलसीदासजी ने श्रीरामचन्द्र की मुखश्री का वर्णन करते हुए कहा है—

> प्रसन्नतां या न गताभिषेकतः।
> तथा न मम्ले वनवास दुःखतः॥
> मुखाम्बुज-श्री रघुनन्दनस्य मे।
> सदास्तु सा मंजुल-मंगल-प्रदा॥

"राज्याभिषेक की बात सुनकर जिसपर प्रसन्नता नहीं छिटकी और वनवास का कष्ट सामने खड़ा होते हुए भी जिस पर विषाद की छाया नहीं पड़ी, वह राम की मुख-कान्ति हमारा नित्य मंगल करे।" यह साफ है कि यहां तुलसीदासजी ने 'प्रसन्नता' शब्द का अर्थ, जैसा कि रूढ़ था, वैसा ही किया है; परन्तु भाषा की शास्त्रीयता के लिए मैं तुलसीदासजी से सिफारिश करूंगा कि वे 'प्रसन्नतां या न गता' की जगह

'प्रहृष्टतां या न गता' का प्रयोग करें, श्रीराम की मुख-मुद्रा हर्ष-विषाद-रहित थी, यही वह कहना चाहते हैं। इसीका नाम है प्रसन्नता।

८८. वस्तुतः प्रसाद के माने हैं प्रसन्नता, अर्थात् स्वास्थ्य।

प्रसन्नता का अर्थ है निर्विकारता, शान्ति, गांभीर्य; 'गांभीर्य' शब्द से डर लगता हो तो उसे छोड़ दीजिए। 'प्रसन्नता' से तो डरने की जरूरत हुई नहीं। प्रसन्नता का मतलब है—राग-द्वेष-रहितता, स्वच्छता, निर्मलता। प्रसन्नता का लक्षण ऐसा भी किया जा सकता है–जिसके दर्शन-मात्र से दुःख शमन होता है। किसीका लड़का मर गया। उसका जी उदास हो गया। कहीं भी मन नहीं लगता। वह एक झरने के किनारे जाकर बैठ गया। मन कुछ लगा–शान्त हुआ। यह गुण उस झरने की निर्मलता का है। निर्मलता स्वयं प्रचारक है। उसका प्रभाव सहज ही पड़ता है। उसके दर्शन होने से वह अवश्य आनन्द उपजाती है। 'प्रसन्नता' का अर्थ व्यक्त करने के लिये भाष्य-कार ने 'स्वास्थ्य' शब्द का प्रयोग किया है, वह ठीक है। 'स्वास्थ्य' में शारीरिक व मानसिक दोनों प्रकार के आरोग्य का समावेश हो जाता है। वैद्य-शास्त्र के अनुसार शारीरिक स्वास्थ्य का अर्थ है– शरीर में धातुसाम्य रहना। और मान-सिक आरोग्य का अर्थ है चित्त की समता रहना, मानसिक शान्ति रहना। इस तरह दोनों अर्थों का संग्राहक यह 'स्वास्थ्य' शब्द 'प्रसन्नता' का ठीक पर्याय माना जा सकता है।

८९. प्रसन्नता से सब दुःख सदा के लिए मिट जाते हैं, क्योंकि दुःख-मात्र मनोमल का परिणाम है।

'प्रसादे सर्व-दुःखानां हानिरस्योपजायते'

इन्द्रिय-जय द्वारा प्राप्त प्रसन्नता से सब दुःख बिलकुल ही मिट जाते हैं। गीता ने प्रसन्नता की ऐसी विशेषता बताई है। दूसरे सुख-साधनों से तो बाज-ही-बाज दुःख दूर होते हैं, और सो भी थोड़े समय के लिए। भोजन से भूख बुझती है, थोड़ी देर के बाद फिर लगती है। नींद से थकान मिट जाती है और फिर नींद से भी जो ऊबने लगता है। इस तरह भिन्न-भिन्न दुःखों को दूर करने के लिए भिन्न-भिन्न सुख-साधनों का सतत प्रयोग करते रहना पड़ता है। परन्तु प्रसन्नता से सभी दुःख मिट जाते हैं। क्योंकि जहां से दुःख पैदा होता है वहीं प्रसन्नता अपना डेरा डाले रहती है। विज्ञान द्वारा यह प्रयोग सिद्ध हो चुका है कि यदि दुःख की संवेदना मस्तिष्क तक न पहुंचे तो दुःख का अनुभव नहीं होता, इसी तरह जिसके चित्त में प्रसन्नता का झरना बहता रहता है, दुःख उसके मन को डिगा नहीं सकते। अंधेरी गुफा में दिया ले जाने से अंधेरा मिट जाता है, ऐसा कहने की अपेक्षा यह कहना ज्यादा उचित होगा कि अंधकार को ही प्रकाश का रूप प्राप्त हो जाता है। उसी तरह जहां अन्तःकरण निर्मल अर्थात् प्रसन्न है वहां दुःख ही सुख-रूप हो जाता है। क्योंकि तमाम दुःख मनुष्य के मनोमल के परिणाम हैं। फिर वे दुःख चाहे शारीरिक हों या मानसिक।

(२)

६०. प्रसन्नता से स्थिर-बुद्धि सहज साध्य।

चित्त जब प्रसादयुक्त अथवा प्रसन्न हो जाता है तो फिर बुद्धि देखते-देखते स्थिर हो जाती है। "प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते"। प्रसन्नता आते ही स्थितप्रज्ञता आने में देर नहीं लगती। निर्विकारता अथवा प्रसन्नता चित्त की स्थिरता का प्रत्यक्ष साधन है। चित्त की स्थिरता के जो

दूसरे साधन माने जाते हैं उनसे चित्त थोड़ी देर के लिए एकाग्र होता है। ये साधन कृत्रिम व क्षणस्थायी ही होते हैं। परन्तु चित्त का मल निकाल डालने से स्थिरता अपने-आप व सदा के लिए आ जाती है। और जब स्थिरता ही चित्त की सहज अवस्था हो जाती है तो यह व्यग्रता ही उलटी अखरने लगती है।

९१. जैसे बालक की।

छोटे बालक के चित्त में जो एकाग्रता रहती है उसका कारण भी यही है। छोटे बच्चे की आंखों की तरफ टक लगाकर देखिए। बिना पलक भांजे वह एकटक देखता ही रहता है। उतने समय में हम दस-पाँच बार पलक खोलते व मूंदते हैं। उनकी आंखों के सामने योगियों की मुद्रा भी हार जायगी। इसका कारण है उनके चित्त की निर्मलता। हां, उनमें निर्भयता अलबत्ते उतनी नहीं रहती है। इससे जहां भय मालूम हुआ नहीं कि उनकी आंखें मुंदी नहीं। शिक्षण-शास्त्र में छोटे बच्चे का चित्त फजूल ही विवाद का विषय बन बैठा है। कुछ शिक्षा-शास्त्री कहते हैं कि छोटे बच्चे का चित्त बहुत चञ्चल रहता है। पर वस्तुतः चित्त उनका चञ्चल नहीं रहता, इनका रहता है, परन्तु आरोप उनपर किया जाता है। "उलटा चोर कोतवालै डाँटै" इसीको कहते हैं। छोटे बच्चे के लिए एकाग्रता बिल्कुल मुश्किल नहीं। हमारे यहां चरखा कातते हुए छोटे बच्चों का जैसा ध्यान लग जाता है उसे देखकर बड़े-बड़े लोगों को बड़ा आश्चर्य होता है। लेकिन उसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। सतत बहने वाली धार एकाग्रता की साधक होती है। इसीलिए महादेव की पिंडी पर अभिषेक की धार छोड़कर एकाग्रता का अभ्यास किया जाता है। किसी अखण्ड बहने वाले

झरने के किनारे बैठने पर चित्त एकाग्र हो जाता है। इसी तरह सूत का धागा सतत निकलते देखकर छोटे बच्चे का निर्मल मन सहज ध्यानस्थ हो जाता है। हाँ, उसका दिमाग कमजोर होता है, इससे उसका ध्यान अधिक समय तक नहीं टिकता, यह बात दूसरी है। परन्तु एकाग्रता अलबत्ते उसके लिए बहुत सहज है। सहज भी कितनी?—मुंह में जरा-सी मिठाई पहुंची नहीं कि वह सारी दुनिया भूल कर उसकी मिठास में लवलीन हो जाता है। एकदम रोना बन्द कर देता है। बच्चा जब रोने लगता है तो मां कहती है—वह देख क्या फुदकता है? बच्चा अपनी सारी वृत्तियों को समेट कर कौवे की तरफ देखने लगता है। फौरन तन्मयता हो जाती है। इस सहज एकाग्रता की ही बदौलत वह शिक्षा तेजी से व फौरन ग्रहण करता है। इस सहज एकाग्रता का कारण है चित्त में मल का न होना। चित्त-शुद्धि ही स्थायी एकाग्रता का मुख्य व प्रत्यक्ष साधन है। शेष सब कोरे बाह्य उपचार हैं।

९२. समाधि कहते हैं मूलस्थिति को, उसे बाह्य साधनों की आवश्यकता नहीं।

जबतक चित्त में वासनाएं भरी हुई हैं तबतक केवल बाह्य साधनों से एकाग्रता कैसे होगी? सुबह का समय हो, आँखें खुल गई हों, शौच-स्नान से निवृत्त हो चुके हों जिससे चित्त तरोताजा हो गया हो, आसन पर तन कर बैठे हों, दृष्टि अर्धोन्मीलित हो, ध्यान के लिए कोई श्लोक या नाम गुनगुना रहे हों, कोई मूर्ति, चित्र, ज्योति या जलधारा आँखों के सामने हो, कहीं से शांत संगीत का सुमधुर स्वर सुनाई दे रहा हो—तब जाकर, इतने तमाम उपचारों के बाद कहीं दस-पांच मिनट एकाग्रता होती है! फिर वह तो बाह्य उपचारों से ही आई होती है,

अतएव कायम कैसे रहेगी? समाधि यदि आत्मा की मूल अवस्था है तो वह सहज होनी चाहिए। इसके लिए बाह्य प्रयत्नों की आवश्यकता ही न रहनी चाहिए। वह कुछ भी न करते हुए ही लगनी चाहिए, बल्कि रहनी चाहिए। खाना-पीना, देखना, सुनना, चलना-फिरना इत्यादि क्रियाएं हैं, अतः उनके लिए परिश्रम, प्रयत्न करना चाहिए, यह ठीक ही है। परन्तु समाधि तो मूलस्थिति है। इसके लिए बाह्य प्रयत्न की, परिश्रम की क्या जरूरत है?

९३. चित्त-शुद्धि हुई कि समाधि लगी।

महाभारत में एक वचन है—"चित्त-शुद्धि होने पर छः महीने में समाधि लग जाती है।" इसका अर्थ इतना ही समझना चाहिए कि व्यासदेव को उनके ख्याल के अनुसार चित्त-शुद्धि होने के छः महीने बाद समाधि-लाभ हुआ। नहीं तो चित्त-शुद्धि होने पर फिर यह छः महीने की झंझट और क्यों? और छः महीने का अर्थ क्या १८० दिन ही? १७९ से काम नहीं चलेगा? इसका अर्थ ही ऐसा है कि अभी चित्त-शुद्धि पूरी नहीं हुई। व्यास-देव से यदि खोद कर ही पूछेंगे तो वे कहेंगे—गीता वाली मेरी भाषा ही ठीक है। गीता कहती है "चित्त-शुद्धि होते ही एकाग्रता हो जाती है। अब, सब प्रकार के प्रयत्न छोड़ना ही जिस अव-स्था का स्वरूप है, वह सहज ही सधना चाहिए, यह कहने की जरूरत नहीं है। हमारे बालकोबा (विनोबा के छोटे भाई) कहते हैं—मैं कोशिश करता हूँ, पर नींद नहीं आती। मैं कहता हूँ—तुम कोशिश करते हो, इसीसे नहीं आती। 'कोशिश और नींद तो परस्पर विरुद्ध ही है' कोशिश छोड़ देने से नींद अपने-आप आ जाती है। यही बात एकाग्रता की है। सारे प्रयत्न छोड़ देने के बाद ही सच्ची एकाग्रता, सहज एकाग्रता सधती है। एका-

ग्रता के साधन ही चित्त पर उलटे पड़ते हैं और क्षणिक एकाग्रता के बाद फिर व्यग्रता आ जाती है।

९४. फिर भी तात्कालिक उपाय के रूप में बाह्य साधन भी उपेक्षा योग्य नहीं।

परन्तु इसका यह अर्थ हरगिज़ नहीं है कि जबतक सहज एकाग्रता न सध जाय तबतक बाह्य साधनों से एकाग्रता का अभ्यास न किया जाय। साधक को साधना में बाह्य साधनों से भी सहायता मिल सकती है। अतः उनका उपयोग करना उचित ही है। और इसीलिए गीता के छठे अध्याय में साधकों के उपयोग के लिए उनका थोड़ा-बहुत जिक्र कर दिया है। साधना के लिए सबसे अनुकूल समय है प्रातःकाल। वह अनुपम है। मानो वह सत्वगुण का ही प्रतीक है। अंधकार चला गया है, प्रकाश अभी आया नहीं है। दिन रजोगुण का प्रतिनिधि है और रात को तमोगुण समझो। और संधिकाल है सत्वगुण का, आत्मा के समत्व का, प्रशान्तता का प्रतिनिधि। यही कारण है जो सन्ध्या-उपासना का विधान किया गया है। उस समय का दृश्य बड़ा रमणीय, पवित्र और उद्‌बोधक होता है। वह समय एकाग्रता के प्रयोग के लिए बहुत मौजूं है। सुबह का समय खो दिया तो मानो सारा दिन ही व्यर्थ गया। अतः उस समय का उपयोग ध्यान के लिए करना निःसंशय श्रेयस्कर है। परन्तु चित्त को बाहर से टेका-सहारा देकर खड़ा करना एक बात है, और दीवार की तरह उसका सीधा तनकर खड़ा रहना दूसरी बात है। अतः गीता ने अन्त में जो संकेत किया है वही उचित है। जब चित्त शुद्ध हो जाता है, निर्विकार हो जाता है, तो वह खुद अपने बल पर स्वाभाविक सीधा खड़ा रहेगा। और यही संकेत पतञ्जलि ने भी कर रखा है। उनकी भाषा में ध्यान-

योग के लिए यम-नियमों का आधार आवश्यक है। यम-नियम क्या हैं? चित्त-शुद्धि की साधना ही है। किन्तु जब चित्त-शुद्धि हो जाती है, प्रसन्नता प्राप्त हो जाती है, तो फिर बुद्धि के स्थिर होने की या एकाग्रता की चिन्ता करने की जरूरत ही नहीं है।

"प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।"

दसवां व्याख्यान

(१)

९५. बुद्धि-नाश की अनर्थकारिता बताने के निमित्त जीवन के पांच मूल्यों का अवतरण।

अबतक अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा यह बताया गया कि संयम से प्रसन्नता-लाभ होकर बुद्धि स्थिर होती है और असंयम से चित्त-क्षोभ होकर बुद्धि-नाश होता है, बुद्धि की स्थिरता नष्ट होती है। इससे संयम का महत्त्व अपने-आप सिद्ध हो जाता है और यदि कोई ऐसी दीर्घ शंका ही करे कि बुद्धि की स्थिरता चली गई तो क्या बड़ा नुकसान होगा, तो उसका भी उत्तर "बुद्धिनाशात् प्रणश्यति" इस वाक्य के द्वारा दे दिया है। सच पूछिए तो ऐसी शंका किसीको करनी न चाहिए : और करे तो उसका उत्तर किसीको देना न चाहिए। परन्तु गीता ने केवल वह उत्तर दिया ही नहीं, बल्कि उसे सविस्तर समझाने के लिए एक और श्लोक खर्च किया है। "बुद्धिनाशात् प्रणश्यति" यह तो एक बच्चा भी समझ लेता है—फिर उसे इतना विस्तार से समझाने की क्या जरूरत? परन्तु यह तो एक निमित्त-मात्र है। इसके द्वारा उन्हें जीवन-मूल्यों का निरूपण करना है। यह मन में ठंसाना है कि ये सभी स्थिर-बुद्धि पर, और अर्थात् संयम पर अवलम्बित हैं। सद्भावना, चित्त की शांति और आत्म-सुख ये

तीन जीवन के अतुलनीय मूल्य हैं और तीनों स्थिर-बुद्धि के अभाव में खतरे में जा पड़ते हैं। अतः स्थिरबुद्धि और तत्साधक संयम ये भी उतने ही महत्त्व के मूल्य हैं। बल्कि ये आखिरी दो तो स्वतन्त्र मूल्य भी हैं। साधक के व्यक्ति-विकास के ही लिए नहीं, बल्कि कुल मिलाकर सारे समाज के भी त्रैकालिक स्वास्थ्य के लिए इससे अधिक उपयोगी अथवा भिन्न मूल्य विचारक लोग नहीं दिखा सके हैं। ये सभी एक छोटे-से सूत्र में गूंथ दिये गये हैं, अतः हम इन्हें पञ्चरत्नी कहते हैं।

९६. सर्वाधार-संयम : संयम के बिना बुद्धि नहीं।

> नास्ति बुद्धिर् अयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
> न चाभवयतः शान्तिर् अशान्तस्य कुतः सुखम्॥

यह वह सूत्र वाक्य है। इसका अक्षरशः अर्थ—"अयुक्त को बुद्धि नहीं, अयुक्त को भावना नहीं। भावना के बिना शांति नहीं। शान्ति के बिना सुख नहीं"—इस प्रकार होगा। यह सूत्र-रूप है, इसलिए इसपर भाष्य करने की आवश्यकता है। 'अयुक्त को बुद्धि नहीं' यह तो अबतक जो मीमांसा की गई उसका फलित बताया है। अयुक्त को अर्थात् असंयमी पुरुष को। संयम से बुद्धि और उसके अभाव में बुद्धिनाश, इन दो अन्वय व्यतिरेकी न्यायों की वह निष्पत्ति है। अर्थात् यह केवल पूर्वानुवाद है। "अयुक्तः काम-कारेण फले सक्तो निबध्यते।" अयुक्त पुरुष स्वै-वृत्ति के कारण फलाशा में फंसकर बँध जाता है, ऐसा पांचवें अध्याय का वचन है। इससे 'अयुक्त' शब्द के अर्थ पर प्रकाश पड़ता है। अयुक्त का अर्थ है आसक्त, कामना-ग्रस्त ; अक्षरार्थ से "युक्ति-रहित"। युक्ति का अर्थ है संयम की युक्ति, यह हम पहले ही देख चुके हैं। इसे जीवन की कुञ्जी ही समझिए। जब यह समझ में आ जाता है

कि व्यक्ति व समाज का रुख संयम की ओर है या स्वच्छन्दता की ओर, तो उसके जीवन का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। अतः इसे जीवन का पहला मूल्य कह सकते हैं। दूसरा मूल्य है इसी से निर्माण होने वाली स्थिर-बुद्धि।

९७. आगे का अध्याहार : बुद्धि के बिना भावना नहीं।

यहां तक इस सूत्र में कहीं भी बाधा नहीं है। परन्तु इसके आगे सूत्र खण्डित जैसा लगता है। 'अयुक्त को बुद्धि नहीं और अयुक्त को भावना नहीं' ऐसी भाषा आगे बोली गई है। वह त्रुटित है। गीता कहना यह चाहती है कि भावना जीवन का तीसरा मूल्य है। उससे शान्ति और शान्ति से सुख—इस प्रकार अगले मूल्य बनाये हैं। भावना के बिना शान्ति नहीं, शान्ति के बिना सुख नहीं, ऐसा कहने से भावना की आवश्यकता समझ में आ गई। संयम से लेकर सुख तक की शृंखला संयम, भावना, शान्ति, सुख—इस तरह जुड़ गई। परन्तु बीच में ही यह बुद्धि क्यों आ गई? बुद्धि व भावना का कुछ भी सम्बन्ध नहीं बताया गया, इससे बुद्धि अधर में ही रह गई। यदि बुद्धि को एक तरफ रखकर भी संयम की आवश्यकता सिद्ध करना हो तो वह इस सूत्र से हो सकती है। परन्तु ऐसा अपेक्षित नहीं है। संयम की आवश्यकता तो पक्की है, पर वह बुद्धि के द्वारा दिखाना चाहते हैं। किसी भी तरह से देखें, यह वाक्य अधूरा ही लगता है। इसलिए 'नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य नचाबुद्धस्य भावना'—संयम के बिना बुद्धि नहीं और बुद्धि के बिना भावना नहीं, ऐसा वाक्य यहाँ होना चाहिए था। परन्तु वर्तमान वाक्य को ही गृहीत करके "स्थितस्य गतिश् चिन्तनीया" इस न्याय के अनुसार उसमें यह सुसंगत अर्थ बैठाना चाहिए। इसलिए "नास्तिबुद्धिर् अयुक्तस्य, अतएव न च

अयुक्तस्य भावना" ऐसा, 'अतएव' शब्द का अध्याहार मानकर काम चलाना होगा। कुल मिलाकर ऐसा अर्थ निकला–"संयम के विना बुद्धि नहीं, बुद्धि के बिना भावना नहीं, भावना के बिना शान्ति नहीं, शान्ति के बिना सुख नहीं।"

(२)

९८. अध्याहार का मर्म : बुद्धि से भावना अलग नहीं। परिनिष्ठित बुद्धि ही भावना है।

तो अब संयम से लेकर सुख तक अखण्ड शृंखला बताते हुए बीच की एक कड़ी जोड़ना छूट कैसे गया होगा ? ऐसी शंका यहाँ हो सकती है। इसका उत्तर ऐसा है कि भगवान् ने यहां बुद्धि और भावना का अद्वैत ही मान लिया मालूम होता है। इस कल्पना में एक विशेष दर्शन है। भावना से भगवान् का अभिप्राय है "परिनिष्ठित बुद्धि" बुद्धि की परिपक्वता। बुद्धि जब इतनी परिनिष्ठित हो जाती है कि उसे अब विचार करने की जरूरत नहीं रही तो उसे भावना कहते हैं।

९९. परिनिष्ठित बुद्धि-रूप भावना के उदाहरण।

कुछ-कुछ बातों में बुद्धि इतनी दृढ़ हो गई होती है कि फिर विचार करने की जरूरत ही नहीं रहती। यह सुनते ही कि खून हो गया, बिना विचारे मुंह से निकल पड़ता है 'बड़ा बुरा हुआ' इसे भावना कहते हैं। ऐसी कुछ भावनाएं समाज के हृदय में समाई हुई रहती हैं। उन्हें पुनर्विचार की जरूरत नहीं रहती। मनुष्य-समाज ने उन विषयों पर लाखों बार विचार कर-करके निर्णय कर रखा है। जैसे आप किसी भारतीय समाज के मनुष्य से पूछेंगे कि क्या शराब से कुछ भी फायदा नहीं है ? शराब

थोड़ी-थोड़ी पिया करें तो क्या हर्ज है? तो वह कहेगा—भाई, तुम्हारी बातें मेरे हृदय में नहीं बैठतीं। हमारे पूर्वजों ने हजारों बार प्रयोग किये हैं और यह निर्णय कर रखा है। कुरान में कहा है—'शराब से फायदा कम नुकसान ज्यादा'। यह तो असली शास्त्रकारों का तर्कशास्त्र हुआ। पर जब एक बार बुद्धि पककर भावना में परिणत हो गई तो फिर तर्क की जरूरत नहीं रहती। तब वह स्वयं-सत्य हो जाता है!

१००. प्रगत समाज में ऐसी अनेक भावनाएं समाई रहती हैं। उन्हींसे समाज में शान्ति रहती है।

बुद्धि-पूर्वक किये गये प्रयोगों के परिणाम-स्वरूप जो भावनाएं समाज में प्रतिष्ठित हो चुकी हैं वे सामाजिक प्रगति की द्योतक होती हैं। युद्धों में इतने आदमी मारे जाते हैं तो यह सवाल पूछने को मन होता है कि जब ये मारे ही जाते हैं तो फिर इन्हें खा क्यों नहीं डालते? होते तो ये बड़े हट्टे-कट्टे लोग हैं। अब यदि शास्त्र-दृष्टि से यह तय हो जाय कि इनका मांस खाना ठीक नहीं है, तो बात दूसरी। परन्तु बहुत करके यही फैसला होगा कि मनुष्य का मांस मनुष्य के जल्दी आत्मसात हो जायगा। अतः यदि और प्राणियों की तरह मनुष्य को भी हम खाने लगें तो अनाज की कमी उतनी न रहेगी। और यदि यह मालूम हो जाय कि मारे गये लोग खाने के काम में आते हैं तो सम्भव है कि सैनिक लोग उन्हें और भी उत्साह व उमंग से मारेंगे। परन्तु बावजूद इसके यह निश्चित हो चुका है कि मनुष्यों को खाना नहीं चाहिए। इसका कारण यह कि हमारी भावना ऐसी बन चुकी है। उसके मूल में अनुभवसिद्ध बुद्धि है। मनुष्य का मनुष्य को खाना बुरा ही है। पर यदि यह रास्ता खोल दिया जाय कि मनुष्य

मनुष्य को खाने लगे तो और भी अनर्थ होगा। फिर तो समाज के पतन को कोई सीमा ही न रहेगी। यह बात मनुष्य के मन में इतनी गहरी बैठ चुकी है कि अब इसके लिए तर्क करने की गुंजाइश ही नहीं रहा है। यह सद्भावना का बढ़िया उदाहरण है। ऐसी अनेकविध उन्नत भावना जिस समाज में पैवस्त हो चुकी हो वह शान्तिमय रहता है। इसके विपरीत जिस समाज के विचार कभी खतम ही नहीं होते, हमेशा हर बात में सन्देह व अनिर्णय रहता है, बुद्धि परिनिष्ठित नहीं होती, उस समाज में सदा अशान्ति ही रहेगी।

१०१. परन्तु समाज में पैवस्त भावना सर्वथा बुद्धियुक्त ही होती हो सो बात नहीं। अतः भावना के कुशल संशोधन की आवश्यकता।

इतिहास के अनुभव से कुछ भावनाएं समाज में स्थिर हो जाती हैं। उन्हींसे सामाजिक जीवन सुव्यवस्थित रहता है। समाज में समतोलता रहती है। परन्तु सभी भावनाएं बुद्धि-युक्त होती हों सो बात नहीं। अतः उनपर बुद्धि का प्रकाश डालकर उन्हें जाँच लेना चाहिए। भावना के जितने अंश के मूल में बुद्धियुक्तता पाई जायँ उसे कायम रखना चाहिए। जितना अंश अबुद्धि-युक्त हो उसे निकाल डालना चाहिए— अलबत्ते भावना का समूल उच्छेद न करना चाहिए। उसकी शुद्धि व विकास करना चाहिए। नहीं तो समाज में फिर कोई भी स्थिर-मूल्य न रहेगा। उसका तौल नहीं संभाला जा सकेगा। अशान्ति व अव्यवस्था का बोलबाला हो जायगा। सामाजिक सद्भावनाओं के कुछ उदाहरण तो हमने देख लिये। अब और भी उदाहरण देख लें जिससे यह मुद्दा ज्यादा स्पष्ट हो जायगा।

१०२. संशोध्य भावना का एक उदाहरण : मांसाहार-निवृत्ति।

हमारा समाज भावना के द्वारा मांसाहार को हेय समझता है। उसके फलस्वरूप कुछ सारी-की-सारी जातियों ने मांस छोड़ दिया है। परन्तु बाद को ये जातियां अपने को उच्च समझने लगीं। यहीं तक बस न हुआ, कुछ जातियों को अछूत तक मानने की नौबत आ गई। इस ऊंच-नीच भेद में और भी कुछ बातें मिला दी गईं, फिर भी कुछ जातियों की मांस-विषयक वर्ज्य-भावना का अंश उसमें हुई है। यह भावना तो उचित है, परन्तु उसके सिलसिले में आये ऊँच-नीच भेद को छोड़ कर ही उसको अपनाना व पुष्ट करना पड़ेगा।

१०३. दूसरा उदाहरण : अन्नदान-संबंधी श्रद्धा।

दूसरी एक और भावना है हमारे समाज में अन्नदान के महत्त्व-संबंधी। सब दानों में अन्नदान श्रेष्ठ व निर्दोष माना गया है। परन्तु समाज में उस भावना का विनियोग करते हुए आज उसे विकृत व अनिष्ट रूप प्राप्त हो गया है। परन्तु इस कारण उसके मूलस्थ सन्देश को हटा देना इष्ट न होगा। उसे सुधार कर परिपुष्ट करना चाहिए। अन्नदान को श्रेष्ठ मानने में यह कल्पना गृहीत है कि प्रत्येक भूखे मनुष्य को भोजन का अधिकार है। उसे भोजन देना समाज का कर्तव्य है। अन्नदान मनुष्य को सीधा ही पहुँच जाता है। दूसरी तरह से सहायता पहुँचाने में दूसरी एजेन्सियाँ, दूसरे मध्यस्थ, बाधक हो जाते हैं। परन्तु इसमें इस बात की सावधानी जरूर रखना चाहिए कि जिसका पेट भरा हुआ है उसपर और अन्न का बोझ न लादा जाय, अन्नदान का अतिरेक न हो जाय, उससे आलस्य

को प्रोत्साहन न मिले। मूल भावना को कायम रखकर विनियोग की पद्धति में इष्ट सुधार करना चाहिए। बुद्धि के प्रकाश में भावना के शुद्धीकरण करने का सामाजिक दर्शन हमें यहां से मिलता है।

१०४. स्थिरप्रज्ञा पर ही स्थापित भावना शान्तिदायी।

राष्ट्र में भावनाएं तो भिन्न-भिन्न रहेंगी ही। वे यदि परिशुद्ध होंगी तो राष्ट्र में शान्ति रहेगी। परिशुद्ध न होंगी तो अशान्ति का दौरदौरा हो जायगा। परन्तु अशान्ति किसीके भी लिए पथ्यकर नहीं हो सकती। तब फिर शान्ति के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की कृत्रिम व हिंसक तजवीजें भी खड़ी की जाती हैं। आज यही हो रहा है। समाज में यदि स्वाभाविक तौर पर शान्ति रखना है तो उसके लिए यही उपाय है कि शुद्ध भावना को कायम रखकर उसका विकास करें व अशुद्ध भावना निकाल डालें। अब यह बताने की जिम्मेदारी कि सद्भावना कौन-सी और असद्भावना कौन-सी, एक स्थितप्रज्ञ की ही है। क्योंकि उसकी बुद्धि स्थिर व तटस्थ हो गई है, अतः वह इस बात की असली परख कर सकता है कि कौन-सी भावना सत् और कौन-सी असत् है। भावना में कला, संगीत, सौंदर्यसंबन्धी कल्पनाएं, मनोविनोद के साधन, धार्मिक उत्सव, पूजाविधि इत्यादि सभी बातें आ जाती हैं। राष्ट्र के जीवन-विकास के लिए इन सब विभागों में उचित विकास होना आवश्यक है। यदि इसके संबंध में राष्ट्र में अण्ट-शण्ट धारणाएं रूढ़ हों तो उस राष्ट्र की अधोगति ही होगी। उसमें अव्यवस्था फैल जायगी। अर्थात् ये सब चीजें स्थिरबुद्धि की बुनियाद पर खड़ी करनी चाहिएं। स्थिर-बुद्धि का अर्थ है शास्त्रीय बुद्धि। उसमें आत्म-ज्ञान, शरीर-विज्ञान, सृष्टि-विज्ञान, सृष्ट-पदार्थ-विज्ञान,

गणित, चिन्तन-शास्त्र इत्यादि सब आ गये। ऐसी स्थिर-बुद्धि की शास्त्रीय बुनियाद पर सामाजिक भावनाएं आधारित हों तो फिर अपने-आप शान्ति रहेगी। उसकी स्थापना के लिए कृत्रिम उपाय नहीं करने पड़ेंगे। ऐसा समाज अहिंसक रहेगा। सारा राष्ट्रीय विधान ही ऐसा होगा कि शान्ति उसका स्वाभाविक लक्षण होगा।

१०५. अतः स्थितप्रज्ञ का नेतृत्व मानना चाहिए।

इसके लिए समाज में इतनी बुद्धि आ जानी चाहिए कि वह मार्ग-दर्शन की जिम्मेवरी स्थितप्रज्ञ व्यक्ति पर ही डाले। जिस समाज के लोगों में इतनी अक्ल न आई हो, या समाज के बड़े लोगों ने उन्हें इतनी समझ प्रदान न की हो तो फिर वहां मार्ग-दर्शन का काम अस्थिर-प्रज्ञ नेताओं के पास रहेगा। स्थितप्रज्ञ के पथ-दर्शन में सामाजिक नीति का आधार संयम ही रहेगा। विज्ञान के द्वारा जीवन का यथार्थ सत्य खोजा जायगा और समाज में फैलाया जायगा। कला हृदय-विकास का भाग है। उसकी रचना विज्ञान के आधार पर होगी और ऐसा समाज-विधान निर्मित होगा, जो समाज को समतोल रख सकेगा और जिसके फलस्वरूप समाज में स्थायी शान्ति व समाधान रहने लगेगा।

ग्यारहवां व्याख्यान

(१)

१०६. 'भावना' शब्द का और थोड़ा विचार ।

'भावना' शब्द का थोड़ा और विचार कर लेना उपयोगी होगा। वैद्य-शास्त्र में 'भावना' का अर्थ है घोटना, घोलना, पुट चढ़ाना। होमियोपैथी में दवाएं घोटी जाती हैं। इस प्रकार मर्दन से उनकी ताकत बढ़ती है, उनका गुण बढ़ता है। इसी तरह बुद्धि को घोटते रहने से उसकी शक्ति बढ़कर वही भावना बन जाती है। स्थित-प्रज्ञ की बुद्धि परिणत होती है अतः उसके जीवन में सिर्फ भावना ही रहती है। उसका जीवन भावना से लबालब भरा रहता है। बुद्धि व भावना में एक भेद और है। बुद्धि सिर्फ दिशा दिखाती है। भावना दिशा भी दिखाती है व काम भी करती है। बुद्धि जब कार्यक्षम व कार्यकारी हो जाती है तो वही भावना बन जाती है। बुद्धि का रूपान्तर भावना में होने के लिए बुद्धि को घोटना जरूरी है। 'सब भूतों में एक ही आत्मा है' यह स्थित-प्रज्ञ के लिए तर्क-रूप बुद्धि न रहकर उसकी रग-रग में भरी हुई भावना हो जाती है। अतः उसे सारे समाज के प्रति वात्सल्य भाव मालूम होने लगता है। माता के मन में अपने बच्चे के प्रति जैसा वात्सल्य रहता है वैसा ही स्वाभाविक भाव उसका हो जाता है। तब

उसके द्वारा समाज की सेवा सहज स्वभाव से होने लगती है। यहां यह शंका रहने की जरूरत नहीं है कि जब कि स्थितप्रज्ञ का जीवन बुद्धिमय होता है तो फिर उसमें भावना के लिए स्थान कैसे रहेगा ? क्योंकि यह हम पहले ही देख चुके हैं कि स्थिर हुई बुद्धि ही भावना है। स्थितप्रज्ञ का जीवन बुद्धिमय होता है, इसलिए वह भावनामय होता है।

१०७. बुद्धि-प्रधानता बनाम भावना-प्रधानता—यह भेद स्थित-प्रज्ञ के अन्दर लोप हो जाता है।

परन्तु ऐसी शंका इसलिए उत्पन्न हो जाती है कि हम आजकल बहुत बार 'भावना' शब्द का प्रयोग बुद्धि के खिलाफ अर्थ में करते हैं और उसकी तुलना बुद्धि के साथ करते हैं। आजकल हम कहने लगे हैं—फलां शख्स भावना-प्रधान है, व फलां बुद्धि-प्रधान। इसके द्वारा हम यह कहना चाहते हैं कि एक में भावना की अधिकता व बुद्धि की कमी तथा दूसरे में बुद्धि की अधिकता व भावना की कमी है। भावना-प्रधान शब्द का अर्थ यहां होता है निरंकुश मन, मन पर बुद्धि का अंकुश न रहना। यहां भावना शब्द का प्रयोग मन को लक्ष्य कर के किया गया है। परन्तु गीता की शिक्षा में जो 'भावना' शब्द आया है वह हमारी हृद्गत वस्तु का निर्देश करता है। गीता की भावना मन का विकार नहीं, बल्कि हृदय का गुण है। वस्तुतः गीता हृदय व बुद्धि में भेद नहीं करती है, बल्कि यह मानती है कि बुद्धि का जो अन्तरतम भाग—गूढ़ा—है वही हृदय है। "हृदि सर्वस्य विष्ठितम्" "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति" इत्यादि वचनों में हृदय का अर्थ "बुद्धि का भीतरी भाग" ही है। हम जब किसीको 'भावना-प्रधान' कहते हैं तब वास्तव में हम उसे 'विकार-प्रधान' कहना चाहते हैं। जिस

भावना पर बुद्धि की सत्ता नहीं चलती वही विकार है। गीता को ऐसी भावना अभीष्ट नहीं। इसके विपरीत जब हम किसी-को 'बुद्धि-प्रधान' कहते हैं तब हमारा आशय यह होता है कि इसमें हृदय की आर्द्रता नहीं है, केवल तर्क-शक्ति का ही विकास हुआ है। परन्तु स्थितप्रज्ञ की स्थिति बिल्कुल ही दूसरी है। वह अपनी बुद्धि को हृदय के हवाले कर देता है। जो अपनी बुद्धि को घोट-घोट कर भावना में रूपान्तरित कर देता है, उसकी बुद्धि हृदय में विलीन हो जाती है, उसकी बुद्धि व भावना एकरस हो जाती है।

१०८. बुद्धि को भावना में परिणत करने के उपाय : जप, ध्यान व आचरण।

हमने अबतक बुद्धि का रूपान्तर भावना में करने के साधारण प्रयोगों का विचार किया। अब कुछ विशेष शास्त्रीय प्रयोगों पर विचार कर लेना चाहिए। इसमें पहला है जप। 'जप' का अर्थ केवल 'वाणी से उच्चार' नहीं, बल्कि मन में भी वही विचार घुटते रहना चाहिए—वाणी इस क्रिया में सहायक होती है। वह क्रिया मनन के जैसी ही होती है, तो भी वह मनन नहीं है। 'मनन' निर्णय के लिए होता है। जप में तो पूर्व निर्णय को दृढ़ किया जाता है। यह वाणी के द्वारा होता है। जप व मनन में यह फर्क है। यदि इस फर्क को भुला दें तो फिर दोनों क्रियाओं में कोई अन्तर नहीं रह जाता। दूसरा प्रयोग है ध्यान। ध्यान का अर्थ है उस विचार से तन्मयता, उसके अनुकूल उपासना। इसीमें से तीसरा प्रयोग—आचरण—शुरू होता है। 'विचार के अनुकूल सारे जीवन की रचना' उसका स्वरूप होता है। इस तरह १ जप, २ ध्यान व ३ आचरण—इन तीन प्रयोगों से बुद्धि का रूपान्तर भावना में हो जाता है।

१०९. भावना का अर्थ 'भक्ति' भी हो जाता है। भक्ति के बिना शान्ति नहीं, शान्ति के बिना सुख नहीं।

इस विषय का विचार और भी एक दृष्टि से किया जा सकता है। स्थित-प्रज्ञ के लक्षणों में दर्शित 'बुद्धि' आत्मनिष्ठ बुद्धि है। जब आत्मज्ञान घुट-घुटकर आत्मसात् हो जाता है तब उसका रूपान्तर भक्ति में होता है। अतः यहां भावना शब्द का अर्थ भक्ति भी लिया जा सकता है। बोध को प्रेम का रूप प्राप्त होना, मानो ज्ञान को भक्ति का रूप मिलना है। जब बोध स्थिर हो जाता है तो वह इतना प्रिय लगने लगता है कि मन नित्य निरंतर उसीमें रमने लगता है। ऐसा होने से बोध का रूपान्तर प्रेम में होता है। इसलिए भावना का अर्थ भक्ति किया जा सकता है। तभी यह बात समझ में आती है कि प्रेम के बिना अथवा भक्ति के बिना शान्ति नहीं होती। बोध जब अत्यन्त प्रिय हो जाता है, तब मन उसमें रंगने लगता है, उससे घिर जाता है, मन्त्रमुग्ध जैसा हो जाता है। ऐसा हो जाने पर फिर अशान्ति हमें नहीं छू सकती। पेड़ की जड़ को रोज पानी मिलता रहा तो वह सदा लहलहाता रहता है। इसी तरह यदि अन्तर्याम में बोध का झरना सतत बहता रहे, उसे प्रेम का रूप प्राप्त हो गया हो और सतत प्रेम-रस मिलता रहे तो जीवन सदा लहलहाता रहता है। आपत्तियां आ जाने पर भी वे सम्पत्ति का रूप ले-लेती हैं। उनसे शान्ति बढ़ती है। इस तरह बोध व भक्ति का अभेद्य सम्बन्ध है। बोध के बिना भक्ति नहीं, भक्ति के बिना शान्ति नहीं, शान्ति के बिना सुख नहीं।

(२)

११०. परन्तु सुख का अर्थ मन का सुख नहीं। मन का सुख जुदा है, मनुष्य का सुख जुदा है।

परन्तु यहां सुख का अर्थ मन का सुख नहीं है। मन का सुख-दुःख और होता है, मनुष्य का और। मन को सुख-दुःख होने से यह लाजिमी नहीं है कि मनुष्य को भी सुख-दुःख हो ही। आज इतने लोग देश के लिए मानसिक दुःख सहन करते हैं। उससे चाहे मन को कष्ट होता हो तो भी उन्हें सुख ही मालूम देता है। क्योंकि उसमें कल्याण की कल्पना रहती है। जीभ को जो मीठा या कडुआ लगता है वह मनुष्य को भी वैसा ही लगता हो सो बात नहीं। दवा जुबान को कडुवी लगती है, परन्तु मनुष्य को मीठी ही लगती है। अतः मनुष्य को जब मानसिक दुःख कल्याणकर मालूम होता है तो वह उसे सहर्ष स्वीकार करता है। अतः मानसिक सुख-दुःख की व्याख्या से जीवन-दृष्टि से की गई सुख-दुःख की व्याख्या भिन्न है। शरीर को सुख आरोग्य से मिलता है। किन्तु शरीर में बल का मचलना, फूट निकलना, दीवार से टक्कर मारने की उमंग पैदा होना, आरोग्य का लक्षण नहीं है। उसका बल खुद उसीसे नहीं संभल पाता। खुद बल ही एक बीमारी हो बैठता है। आरोग्य का अर्थ है शरीर का समतोल रहना। आरोग्य एक बात है, बल का उद्रेक दूसरी। आरोग्य में स्वस्थता रहती है। बेहिसाब असंयत बल में क्षोभ होता है। उसी तरह जिस सुख से मन को हर्ष होता है वास्तव में वह सुख ही नहीं है। जीवन के वास्तविक सुख जुदा होते हैं। उनका निवास शान्ति में होता है, चित्त की खलबली में नहीं। उनका आरम्भ निर्विकारता से होता है। निर्विकारता से बोध, बोध से भक्ति अथवा निष्ठा, फिर शान्ति, व फिर सतत, अरुचि-शून्य सुख—ऐसी परम्परा है।

१११. 'होना'-पन का सुख ही सच्चा सुख : वही सतत अरुचि-शून्य सुख।

दूसरे सुखों से शान्ति भंग होती है। अतः उनसे जी उकता जाता है। हमेशा वही-की-वही चीज अच्छी नहीं लगती। मन कहता है, अब इसमें कुछ परिवर्तन हो तो अच्छा। परन्तु आत्मा का सुख ऐसा है कि उससे जी नहीं ऊबता। मन कहता है कि यह ऐसा ही निरंतर बना रहे। उससे हम उकताते नहीं। संगीत चाहे कितना ही मधुर-सुरीला हो पर चौबीसों घंटे कान पर वही-वही राग, स्वर व धुन आते रहने से जी ऊब जाता है। यही बात रंगों की है। तरह-तरह के रंगों को देखकर थोड़ी देर के लिए आंखों को भला मालूम होता है; परन्तु यदि इन रंगों की भरमार आंखों पर होने लगे तो वे परेशान हुए बिना न रहेंगी। आराम के लिए वे आकाश के रंगहीन नीले रंग का सहारा खोजने लगेंगी। आकाश के नील वर्ण से आंखें थकतीं-ऊबतीं नहीं। इसीलिए उपासना में ईश्वर का रूप 'गगन सदृश' माना गया है। दूसरे चटकीले रंगों में और आकाश के सौम्य रंग में जैसा अन्तर है वैसा ही दूसरे सुख व आत्म-सुख में है। आत्म-सुख कहते हैं अपने होने-पन के अखण्ड सुख को। कोई क्षण भर के लिए भी नहीं चाहता कि मैं न होऊं। शरीर छूट जाय, यह तो भले ही कोई चाहे। फलाँ जगह मैं न रहूँ, यह भी किसीकी इच्छा हो सकती है। परन्तु यह कोई नहीं चाहता कि मैं बिल्कुल न होऊं। अपने अस्तित्व से हमारा जी कभी ऊब ही नहीं सकता। केवल अस्तित्व का सुख सतत व अरुचिशून्य होता है। शेष सब सुख अस्तित्व पर के विकार हैं। अस्तित्व का हमें जो भान होता है वह भी विकार ही है।

११२. कुम्भक के उदाहरण से इसे समझें।

इसलिए योग-शास्त्र में कुम्भक के संकेत से आत्मा के केवल अस्तित्व का दर्शन कराया जाता है। सांस अन्दर लेने

की क्रिया पूरी हो चुकी है, बाहर छोड़ने की क्रिया अभी शुरू नहीं हुई है, इस बीच का जो अति सूक्ष्म उभयवृत्ति-वर्जित, निष्क्रिय, तटस्थ क्षण होता है उसका चिन्तन करने से 'केवल अस्तित्व' का दर्शन हो जाता है। इसलिए कुछ गुमराह साधक इस क्षण को अधिक-से-अधिक लम्बाने का स्थूल प्रयत्न—जिसे दीर्घकुम्भक कहते हैं—साधने का प्रयास करते हैं। पर सच पूछिए तो जरूरत कुम्भक को लम्बाने की नहीं, बल्कि कुम्भक-दृष्टान्त द्वारा सूचित आत्मस्थिति के पहचानने की और उसी अनुभव में सतत स्थिर रहने की है। कुम्भक तो एक उदाहरण-मात्र है। ऐसे और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं। ज्ञानदेव ने अपने 'अमृतानुभव' में ऐसे अनेक दृष्टान्त एक जगह एकत्र किये हैं। 'रात समाप्त हुई, दिन का आरम्भ अभी नहीं हुआ है'। 'वर्षाकालीन नदी का चढ़ाव समाप्त हो गया है, परन्तु अभी ग्रीष्मकालीन उतार शुरू नहीं हुआ है।' जैसे ये दृष्टान्त हैं वैसा ही कुम्भक भी एक दृष्टान्त ही है। अब कुम्भक-प्रक्रिया को शारीरिक कारणों से लम्बाना हो तो बात दूसरी है। आध्यात्मिक दृष्टि से तो सिर्फ मध्यस्थ दशा की ओर ध्यान खींचना है। केवल निरुपाधिक मध्यस्थ दशा लक्ष्य है। हमें अपने सारे जीवन भर तमाम उपाधियों से मुक्त हो सकना चाहिए। 'मैं यह हूँ' 'मैं वह हूँ'—ऐसे तमाम विशेषणों को निकालने में समर्थ हो जाना चाहिए। तमाम गुण-दोषों का निरास करते-करते बच रहने वाला मनुष्य का जो मूल उप-शान्त स्वरूप है उसीमें सुख है। यह दिखाने के लिए कि शान्ति-मय सुख दूसरे साधारण सुखों से भिन्न है उसे नित्य सुख, आत्मसुख, चित्-सुख आदि कहते हैं। वही वास्तविक सुख है, इसलिए उसे 'सत्यसुख' भी कह सकते हैं। 'सच्चिदा-नन्द' शब्द के द्वारा यही भाव सूचित किया गया है। आत्मा में

बुद्धि के स्थिर हो जाने के बाद वह सुख प्राप्त होता है। इसलिए जिसकी प्रज्ञा स्थिर हो गई है उसका जीवन सुखी है।

११३. आत्म-सुखानुभूति का व्यवहार से विरोध नहीं है। इतना देख लेना काफी है कि आत्मबोध बाह्य उद्योगों में खर्च न हो।

यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि हम आत्मा से बाहर के विषयों में बुद्धि को डालें ही नहीं तो फिर लोक-व्यवहार कैसे चलेगा ? जैसे यदि चमड़े का काम तो करें पर उसमें बुद्धि से काम न लें तो फिर वह उद्योग चलेगा कैसे ? और करें भी क्यों ? यदि बुद्धि को आत्मा में स्थिर रखना है तो फिर ये बाहर के काम-काज—उद्योग—होंगे कैसे ? तो इसका समाधान यह है कि सामान्य लोक-व्यवहार में जिस बुद्धि का उपयोग होता है वह बुद्धि की एक शक्ति है। उसे तर्क कह सकते हैं। बाहरी बातों में उससे काम लिया जाय तो हर्ज नहीं। परन्तु 'अहं बुद्धि' नामक जो बुद्धि का गूदा—सारभाग है उसे आत्मा में स्थिर रखकर हमें तटस्थ हो रहना चाहिए। आत्मबोध को बाहरी उद्योग में खर्च न करना चाहिए। साधारण बुद्धि को लोक-व्यवहार में लगाकर दूसरी तरफ आत्मबोध में लीन रहना है तो मुश्किल, परन्तु इसलिए उसे छोड़ नहीं देना चाहिए। निरंतर प्रयत्न करने से वह सध जायगा। क्योंकि वह कृत्रिम नहीं है, अतः यह निश्चित है कि उसमें सफलता मिलेगी।

११४. आत्मबोध को खण्डित न होने देने की तरकीब : पहले क्षण में आघात का असर न होने दें।

इसकी मैंने एक तरकीब खोज निकाली है। पहले क्षण में

बाहरी बात का असर मन पर न होने देना चाहिए। भले ही दूसरे क्षण में हो तो परवा नहीं, परन्तु पहले क्षण में तो न होने देना चाहिए। किसीने विनोद किया, पहले क्षण में आप मत हंसिए। किसीने एक तमाचा जड़ दिया, पहले क्षण में आंखों में आंसू मत आने दीजिए। पहले क्षण में यह प्रतीत होने दीजिए कि मानो यह भगवान् का स्पर्श है। दूसरे क्षण चाहो तो भले ही आंसू आ जावें। मां के मर जाने की खबर आ जाय, तो पहले क्षण में हृदय को धक्का मत लगने दो। अपनी शान्ति को विचलित मत होने दो। यदि आपने अपने मन को इतना साध लिया तो फिर आगे की बातें अपने आप सध जायेंगी।

बारहवां व्याख्यान

(७)

११५. इन्द्रियों के पीछे जाने वाला मन बुद्धि को भी खींच ले जाता है। इसलिए संयम की आवश्यकता।

इसके अगले श्लोक में संयम की आवश्यकता फिर एक दूसरी तरह से बतलाई है—

इन्द्रियाणां हि चरतां यन् मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥

जब इन्द्रियां स्वच्छन्द वर्तने लगती हैं और मन उनके पीछे जाता रहता है, तो फिर बुद्धि ज्यों-की-त्यों साबित व तटस्थ नहीं रह सकती। जब मन इन्द्रियों की तरफ चला जाता है तो इन्द्रियां व मन मिलकर उनका पक्ष प्रबल हो जाता है। फिर बुद्धि अपना काम नहीं कर पाती। इसका अर्थ यह नहीं कि बुद्धि नष्ट हो जाती है। बुद्धि का अबुद्धि हो जाना शक्य नहीं है। किन्तु तब वह कुबुद्धि बन जाती है। और उस दशा में वह अ-बुद्धि से भी ज्यादा अनर्थकारिणी हो जाती है। परन्तु मन यदि बुद्धि की तरफ आ जाय तो फिर बुद्धि का पक्ष जोरदार हो जायगा और इन्द्रियों को उनके पीछे चलना पड़ेगा। जब बुद्धि के अनुकूल मन और मन के अनुकूल इन्द्रियां हो जाती हैं तब जीवन का सारा व्यवहार आत्मा के अनुकूल

हो जाता है। इसके विपरीत यदि इन्द्रियों के पीछे मन और मन के पीछे बुद्धि चलने लगे तब वह अण्ट-शण्ट प्रयोग करने लगती है और मन के पक्ष का समर्थन करने के लिए तरह-तरह के कुतर्क रचने लगती है। ऐसा होने पर जीवन का सारा व्यापार आत्मा के प्रतिकूल होने लगता है।

११६. बुद्धि नौका की तरह तारक, परन्तु मन की पकड़ में आ जाय तो वही मारक हो जाती है।

पहले एक जगह बुद्धि-नाश की परंपरा बताते हुए एक श्लोक में यह कहा है कि विषय-चिन्तन से पहले मन पर आक्रमण होता है, फिर दूसरे श्लोक में यह अलग तौर पर बताया गया है कि फिर मोह आदि उत्पन्न होकर उनकी आंच बुद्धि को कैसे लगती है। इसीका स्पष्टीकरण यहां किया जा रहा है। जब सवार के हाथ में लगाम और लगाम के बस में घोड़ा हो तब तो सवार बेखटके मुकाम पर पहुँच सकता है। परन्तु इसके विपरीत घोड़े के बस में लगाम और लगाम के बस में सवार हो जाय तो फिर मुकाम पर पहुँचने की कोई आशा नहीं। कठोपनिषद् में इस तरह विवेचन किया गया है। वही बात यहां नाव की उपमा देकर समझाई गई है। बुद्धि नाव की तरह तारक है। परन्तु वह यदि हवा के चक्कर में आ गई तो फिर पार नहीं लगा सकती। बुद्धि यदि मन की पकड़ में आ जाय तो फिर उसकी तारक शक्ति नष्ट हो जाती है और वह डुबोने का कारण बन जाती है।

११७. बुद्धि और मन सदा के लिए जुदा नहीं हो सकते। या तो बुद्धि मन के वश में हो जायगी, या मन बुद्धि के बस में रहेगा। दूसरी बात श्रेयस्कर।

यदि ऐसी कोई तरकीब होती कि जिससे मन इन्द्रियों के पीछे चला जाय तो भी वह बुद्धि को न छू सके तब तो हम कह सकते थे कि वह खुशी से जाय, हमारा क्या बिगड़ेगा? बुद्धि व आत्मा का पक्ष मजबूत हो जाने पर हम यह मान सकते हैं कि मन यदि इन्द्रियों के चक्कर में आकर विषयों की ओर झुके भी तो हमें परवा नहीं। हम लोगों को ऐसा कहते हुए सुनते भी हैं कि "भले ही हम विषय-विलास में लगे हों तो भी हमारी बुद्धि उसमें फँसती नहीं है। विचार करते समय हम उस विषय को भूलकर तटस्थता के साथ विचार करते हैं।" परन्तु यह भ्रम है। ऐसा हो नहीं सकता। हो तो यह सकता है कि इन्द्रियां, मन व बुद्धि तीनों को एक पक्ष में डालकर हम उनसे भिन्न या पृथक् रहें। क्योंकि आत्मा बिलकुल भिन्न-पृथक् है। आत्मा व बुद्धि के बीच में खाली जगह है। उनके बीच में आप दीवार खड़ी कर सकते हैं। परन्तु वह तभी हो सकता है जब आप स्थितप्रज्ञता प्राप्त कर लें। यही वेदान्त है। यह है तो कठिन परन्तु शक्य है। मन व बुद्धि के बीच खाली जगह नहीं है। वे परस्पर सम्बद्ध हैं। इसलिए जिस तरह आत्मा एक ओर और बुद्धि, मन तथा इन्द्रियां दूसरी ओर—ऐसे दो टुकड़े खुशी से किये जा सकते हैं वैसे आत्मा व बुद्धि एक ओर और मन व इन्द्रियां दूसरी ओर, ऐसे टुकड़े करने की गुंजाइश नहीं है। तब फिर या तो इन्द्रियों के अधीन मन व मन के अधीन बुद्धि हो सकेगी अथवा बुद्धि के अधीन मन व मन के अधीन इन्द्रियां हो सकेंगी। इनमें दूसरा मार्ग इष्ट व श्रेयस्कर है, ऐसा संकेत यहां किया गया है।

(२)

११८. ज्ञानदेव का खास सुझाव : ज्ञानी के लिए भी

असावधान होकर इन्द्रियों को छुट्टा छोड़ देने की गुंजाइश नहीं।

परन्तु इस श्लोक में यदि इतना ही बताया गया होता तो कोई बड़ी बात नहीं थी। अतः इसमें कोई विशेष अर्थ गर्भित होना चाहिए। जरा बारीकी से हम उसकी खोज करें। ज्ञानदेव ने यह अर्थ स्पष्ट किया है। उनके मतानुसार इस श्लोक में खतरे की घण्टी बजाई गई है। इसमें यह सूचित किया गया है कि मनुष्य भले ही स्थितप्रज्ञप्राय दशा को पहुंच गया हो तो भी उसे गाफिल न रहना चाहिए। ज्ञानदेव कहते हैं—

"प्राप्त पुरुष भी
यदि कुतूहल से इन्द्रियों को दुलरावें
तो उसपर सांसारिक दुःखों के द्वारा
आक्रमण हुआ ही समझो"

'प्राप्त' कहते हैं पहुंचे हुए पुरुष को, अर्थात् जो मंजिल पर पहुंच गया है। तो ऐसा स्थिरबुद्धि पुरुष इन्द्रियों को लाड़ क्यों लड़ाने लगा? इसलिए कुतूहल से कहा है। वह यदि सहज भाव से कुतूहल से असावधानी अथवा गफलत में आकर इन्द्रियों को छुट्टा छोड़ देने लगा तो फिर उसका भी मन उससे भी बलवान् होकर उसे खींच ले जायगा। यदि इस बात पर विचार किया जाय कि यह अर्थ ज्ञानदेव को कैसे सूझा होगा तो उसमें उनकी बुद्धि की सूक्ष्मता का परिचय मिलता है। इस श्लोक में यह नहीं कहा गया है कि जिस तरह हवा नाव को खींच ले जाती है उस तरह मन 'बुद्धि' को खींच ले जाता है। बुद्धि की जगह यहाँ जो 'प्रज्ञा' शब्द का प्रयोग किया गया है सो क्या फिजूल है? इस 'प्रज्ञा' शब्द से ज्ञानदेव ने यह आशय लिया कि मनुष्य को किसी भी दशा में अपने मन को छुट्टा न

छोड़ना चाहिए। समर्थ रामदास ने भी अपने 'मनाचे श्लोक' में अन्तिम उपदेश इसी तरह का दिया है "मना गूज रे तूज हें प्राप्त जालें" अर्थात् अरे मन, तुझे जो कुछ मिलना था सो सब मिल गया है। तू अपने मुकाम पर पहुँच गया है, फिर भी गाफिल रहना ठीक नहीं। "तरी अन्तरी पाहिजे यत्न केले" रहस्य पा लेने पर भी तू अपना हाथ खींच के ही रख। लगाम ढीली मत छोड़। अर्थात् उनका आशय यह है कि बुद्धि के स्थिर होकर प्रज्ञा-रूप हो जाने के बाद हम गाफिल न रहें, लगाम ढीली न करें।

११६. वस्तुतः ज्ञानी नियम से संयमी नहीं रहता, स्वभाव से रहता है।

परन्तु ज्ञानदेव ने एक दूसरी जगह कुछ दूसरे प्रकार के उद्गार प्रदर्शित किये हैं। "गंगा जब समुद्र के पास जा पहुँचती है तो उसकी गति मन्द हो जाती है।" "शत्रु को जीत लेने पर तलवार का हाथ ढीला हो जाता है।" इन उद्गारों से यह ध्वनित होता है कि ज्ञानी पुरुष को साधना की जरूरत नहीं रहती है। और यहाँ तो उन्होंने उसके लिए खतरे की घण्टी बजाई है। इन दोनों बातों में मेल कैसे बैठावें? इसका मेल यह है कि ज्ञानी के लिए सावधानता सहज हो जाती है। ब्रह्मसूत्र-भाष्य में शंकराचार्य ने यही अर्थ कुछ भिन्न भाषा में दिया है। "आत्मज्ञानी स्वच्छन्द आचरण कैसे करेगा? स्वच्छन्द आचरण के लिए भी तो कुछ अहंकार आवश्यक होगा न?" उनकी यह उक्ति बड़ी मार्मिक है। वह तो संयम के ही सहारे स्थित-प्रज्ञ हुआ है। वह असंयत व्यवहार करेगा कैसे? संयत व्यवहार ही तो उसका स्वभाव है। स्थित-प्रज्ञ के लिए अब नियम नियम नहीं रहता, संयम संयम नहीं रहता। उसके पास ऐसा भेद-भाव बाकी नहीं रहता कि नियम मुझसे कुछ भिन्न हैं और मुझे उनका

पालन करना है। सूर्य नियम के कारण प्रकाशित नहीं होता, स्वभाववश होता है। गंगा नियम के कारण नहीं बहती, स्वभाव से बहती है। यही स्थिति स्थितप्रज्ञ की होती है

१२०. ज्ञानी तो ठीक परन्तु साधक को भी संयम भाररूप नहीं होता।

पर क्या इन्द्रिय-संयम उसके लिए एक बोझा होता है? उलटे इन्द्रियों का असंयम ही एक बोझ हो रहता है। कोई व्यक्ति गणित पढ़कर पारंगत हो गया, बड़ा गणितज्ञ बन गया। तो क्या वह यह चाहेगा कि अब मेरे लिए गणित के नियम न रहें? क्या वह यह कहेगा कि अब मेरे लिए दो और दो चार नहीं बल्कि तीन हुआ करें? यदि हाँ, तो फिर उसका गणित ही खतम हुआ व कहना होगा कि उसका दिमाग मुकाम पर नहीं है। जबतक हम यह समझते रहेंगे कि संयम एक बोझ है, बोझ है, बोझ है तबतक वह अप्रिय ही लगेगा। साधक भी तो ऐसा नहीं समझता। हाँ, यह ठीक है कि साधक को शुरू-शुरू में संयम थोड़ा तापदायक मालूम होगा। और वह तापदायक होता है, इसीसे तो उसे 'तप' कहा है। यदि संयम में बिल्कुल ही ताप न हो तो फिर वह 'तप' किस बात का? परन्तु शुरू में यद्यपि संयम थोड़ा तापदायी हो तो भी साधक उसे बोझ कभी नहीं मानता, उल्टा उसे उसके लिए उत्साह ही रहता है। मुसाफिर को लड्डू की झोली क्या भारी लगेगी? अतः जब खुद साधक को ही संयम भाररूप नहीं होता, तो फिर स्थितप्रज्ञ के लिए तो उसका सवाल ही कहाँ रहा?

१२१. स्थितप्रज्ञ के लिए असंयम अशक्य : क्योंकि स्थिर-बुद्धि का तो आधार ही संयम है।

अभ्यास हो जाने से संयम स्थिर-बुद्धि का एक अंग ही हो

जाता है। स्थिर-बुद्धि संयम पर ही खड़ी रहती है। तो फिर स्थिर-बुद्धि हो जाने पर मनुष्य संयम के विषय में ही ढिलाई कैसे करेगा ? मनुष्य और सब डालियों को काट डालेगा, परन्तु जिस डाल पर वह खुद बैठा है उसे कैसे काट देगा ? स्थिर-बुद्धि चूंकि संयम पर पाँव रखकर खड़ी है सो वह संयम पर ही कुल्हाड़ी नहीं चलावेगी। अतः यदि स्थिर-बुद्धि संयम पर ही प्रहार करने लगे तो समझो कि वह आत्महत्या ही कर रही है। ज्ञानदेव का आशय यही है। उसका अर्थ यह नहीं है कि स्थित-प्रज्ञ को नित्य प्रयत्नशील रहना पड़ता है। परन्तु यदि यह मान लें कि संयम के विषय में उसने ढील-पोल चलाई तो फिर इससे स्थित-प्रज्ञता की बुनियाद ही ढह जायगी। और इसलिए उससे ऐसा हो नहीं सकता, यह इस श्लोक का गहरा अर्थ है।

१२२. सावधानता की अपेक्षा न रखने वाली सहजावस्था एक प्रकार से मानवी आकांक्षा-मात्र है। अतः सावधानी का संकेत हर हालत में उचित ही है।

एक ओर से यह कहा जाता है कि स्थित-प्रज्ञ को साधना अथवा सावधानता की जरूरत नहीं है। तो दूसरी ओर से यह कहा जाता है कि उसके लिए भी इसकी जरूरत है। हमने इन दो परस्पर-विरुद्ध भासित होने वाले कथनों में इस तरह मेल बैठाया कि स्थित-प्रज्ञ के लिए सावधानता सहज होती है। एक दूसरी तरह से भी यह मेल बैठाया जा सकता है। ऐसी सहजा-वस्था जिसके लिए सावधानता की अपेक्षा न हो, एक तरह से मनुष्य की आकांक्षा-मात्र है। निदान लाखों लोगों के लिए तो वह ऐसी ही है। इस देह में स्थित-प्रज्ञ की पूर्ण व्याख्या तक पहुँच जाना असम्भव न हो तो भी बहुतों की दृष्टि से वह अशक्य-प्राय है। साधक की भूमिका जैसे-जैसे प्रगत होती

जायगी वैसे-वैसे स्थित-प्रज्ञ की व्याख्या का अर्थ भी सूक्ष्म होता जायगा। और इसलिए मनुष्य सहसा इस स्थिति को नहीं पहुँच सकेगा जिसमें वह यह मान सके कि मैं स्थित-प्रज्ञ हो गया। एक दृष्टि से यह इष्ट भी है। जबतक देह कायम है तब-तक विकास की गुंजाइश होना वाञ्छनीय है। बल्कि देह का अस्तित्व ही इस बात का एक चिह्न समझना चाहिए कि ऐसी गुंजाइश है। टाल्स्टाय के कथनानुसार साधक और उसके ध्येय में इस तरह निरन्तर पकड़ा-पकड़ी का खेल चालू रहने में ही मजा है। साधक को जहाँ यह लगने लगा कि मैंने ध्येय को 'यह पकड़ा' कि तुरन्त उसने कहा—'मैं यह खिसका' और आगे दौड़ गया। इसीमें साधना की प्रतिष्ठा है। अतः साधक के लिए खतरे की घण्टी बजा देना हर हालत में उचित ही है। किन्तु इससे यह अनुमान अलबत्ते न निकाल लेना चाहिए कि तो फिर 'ध्येय-प्राप्ति कभी हो ही नहीं सकती।' ईश्वर-कृपा से ध्येय-प्राप्ति अवश्य होगी। परन्तु जिस क्षण मनुष्य के मन में यह कल्पना आ गई कि अब मैं पहुँच गया, अब मुझे अपने मन को छुट्टा छोड़ देने में हर्ज नहीं है तो उसी क्षण वह प्राप्ति चली गई, खो गई—ऐसा समझना चाहिए। कई बार ऐसा हो जाता है कि तैराक नदी के किनारे पर पहुँचता है, किनारे पर हाथ टेक भी देता है, परन्तु फिर हाथ छूटकर पानी में बह जाता है। अतः हाथ का किनारे तक पहुँच जाना काफी नहीं है। जब पाँव किनारे पर चढ़ जायं तभी समझना चाहिए कि हम पहुँच गये। अतः यह कहना कि ठेठ अन्त तक संयम में ढिलाई नहीं चल सकती, साधक के हित में है।

(३)

१२३. इस तरह संयम की आवश्यकता आदि से अन्त

तक सिद्ध हुई, अतः निगमन ।

इस तरह संयम की आवश्यकता शुरू से आखीर तक साबित हुई, अर्थात् वह सोलहों आना साबित हुई। इतना सिद्ध हो जाने पर अब 'तस्मात्' शब्द डालने में आपत्ति नहीं।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस् तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

इसमें 'तस्मात्' 'इसलिए' शब्द डालकर शुरू की प्रतिज्ञा को केवल दुहराया है। तर्कशास्त्र में इसे 'निगमन' कहते हैं। शुरू में असली सिद्धान्त बताना, फिर युक्तियों से उसे सिद्ध करना और अन्त में फिर उस प्रतिज्ञा को दोहराना, यह तर्कशास्त्र की रीति है। इस विधि से शास्त्र का समाधान हो जाता है। यह रेखागणित के क्यू. ई. डी. अर्थात् 'इति सिद्धम्' की तरह है। गीता में अक्षरशः तर्कशास्त्र की पद्धति का अवलम्बन नहीं किया गया है। शास्त्र के चौखटे में फंसाकर साधारण मनुष्य की बुद्धि को व्यर्थ ही परेशान करने में उसे रुचि नहीं है। अतः उसने अपने विवेचन में ऐसी सरल संवाद-पद्धति का आश्रय लिया है, जिससे साधारण मनुष्य भी समझ सके। फिर भी वह शास्त्र की उपेक्षा नहीं करती है। और यह विवेचन तो खास करके संयम की तात्विक उपपत्ति बतलाता है, इसलिए शास्त्रीय शैली आवश्यक भी हो गई है। अतः शास्त्र के सन्तोष के लिए यह एक श्लोक और खर्च किया है। 'यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः' इस श्लोक में जो कहा है, बिल्कुल वही यहाँ दोहराया है। सिर्फ कछुए की उपमा को छोड़कर इस श्लोक का ज्यों-का-त्यों पुनरुच्चार किया गया है। यही निगमन का स्वरूप होता है।

तेरहवां व्याख्यान

(१)

१२४. अन्तिम विभाग : स्थित-प्रज्ञ की स्थिति का खुलासा।

स्थित-प्रज्ञ के लक्षणों के दो विभाग समाप्त हुए। अब तीसरा और अन्तिम विभाग शुरू होता है। पहले चार श्लोकों के विभाग में स्थितप्रज्ञ की व्याख्या और उस व्याख्या का विवरण बताया गया। मध्यम विभाग में उसी सिलसिले में तीन श्लोकों में संयम का विज्ञान और सात श्लोकों में संयम का तत्वज्ञान खोलकर बताया। अब अन्तिम विभाग में स्थित-प्रज्ञ की स्थिति का खुलासा करके उसकी फल-श्रुति कहते हैं। तीन श्लोकों की एक त्रिसूत्री में स्थिति का खुलासा होगा और अन्तिम श्लोक में फल-श्रुति कही जायगी।

१२५. खुलासे का पहला सांकेतिक श्लोक। इनकी रात सो उसका दिन और उसकी रात सो इनका दिन।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

यह खुलासे का पहला श्लोक है। इसका अक्षरार्थ इस प्रकार है—'जहां प्राणिमात्र सोते रहते हैं तहां स्थितप्रज्ञ जगता रहता है। और जहां प्राणिमात्र जगते रहते हैं वहां स्थितप्रज्ञ मजे में सोता रहता है' परन्तु यहां अक्षरार्थ नहीं लेना है, लाक्षणिक

अर्थ लेना है, यह कहने की जरूरत नहीं। यदि शाब्दिक अर्थ लेंगे, तो यह श्लोक स्टेशनमास्टर, चोर, रातपाली वाले मजूर आदि पर घटेगा। गांधीजी ने इस श्लोक का थोड़ा-सा अक्षरार्थ भी दुहने का प्रयत्न किया है। "साधारण लोग रात का समय विलास आदि में बिताते हैं और सुबह सोते रहते हैं; परन्तु संयमी रात में सो जाता है और सुबह ही उठकर मनन-चिन्तन में लग जाता है" इस तरह उन्होंने इसका उपयोगी अक्षरार्थ दुह लिया है। परन्तु उन्होंने भी इसके शाब्दिक अर्थ को मुख्य नहीं माना है। वे जानते हैं कि इसका सूक्ष्म व लाक्षणिक अर्थ ही ग्रहण करना है और उन्होंने आगे चलकर अपनी पद्धति के अनुसार वैसा अर्थ किया भी है।

१२६. अर्थात् स्थितप्रज्ञ की कुल जीवन-दृष्टि ही दूसरों से उलटी होती है।

इस श्लोक के रूपक के द्वारा स्थित-प्रज्ञ की जीवन-दृष्टि बताई गई है। स्थित-प्रज्ञ की व अज्ञ जन की जीवन-दृष्टियों में बड़ा फर्क है। जैसे दो समानान्तर रेखाओं का कहीं स्पर्श-बिन्दु ही नहीं होता वैसे ही स्थिति इन दोनों की जीवन-दृष्टियों की है। स्थितप्रज्ञ की निगाह ही बदल जाती है। मीराबाई ने जैसे कहा है—'उलट भई मोरे नयनन की' ऐसी उसकी हालत हो जाती है। सच पूछिए तो उसकी दृष्टि उलटी नहीं होती, बल्कि वही सुलटी होती है। संसार की ही दृष्टि उलटी है। परन्तु वह बहु-संख्यक लोगों की होने के कारण सुलटी समझी गई है। बहु-संख्या को क्यों दोष दें, इसलिए मीराबाई ने अपनी ही दृष्टि को उलटा कह दिया। सो, जब हमारी जीवन-दृष्टि में ही फर्क हो गया तो फिर जीवन की तमाम क्रियाओं में वह चरितार्थ होता जायगा।

१२७. जैसे खाना।

जैसे खाना शरीर-धारण के लिए आवश्यक है। साधारण मनुष्य खाना खायेगा और स्थितप्रज्ञ भूखा रहेगा सो बात नहीं। स्थित-प्रज्ञ भी भोजन करेगा। दोनों की बाहरी क्रियाएं एक-सी होंगी; परन्तु वृत्ति, विचार व भावना एक-सी न होंगी। स्थित-प्रज्ञ का भोजन मानो एक यज्ञ होगा। वह केवल शरीर-धारण के लिए तटस्थ भाव से किया जायगा। उपनिषद् की और शंकराचार्य की भाषा में 'औषध-रूप' या गांधीजी की भाषा में 'जिस घर में हम रहते हैं उसका भाड़ा देना पड़ता है', या एक वैज्ञानिक की भाषा में 'जब यन्त्र से काम लेते हैं तो उसे तेल भी देना ही चाहिए'—इस तरह का होगा। शरीर स्वस्थ और क्षम रूप रखने के लिए वह उसे आहार देगा। उसमें उसकी भोग-वृत्ति न रहेगी। जबकि और लोगों के भोजन में भोग, आनन्द, मौज-मजा का भाव होगा। उसके लिए कितनी बुद्धि, समय और श्रम खर्च किया जाता है? कैसा भारी आयोजन व संगठन किया जाता है? आधा मानव समाज—सभी स्त्रियां लगभग उसी काम में लगा दी गई हैं। इस भोजन का इतना बड़ा आडम्बर कर दिया गया है। स्थितप्रज्ञ का भोजन शास्त्रीय दृष्टि से होगा और उसके मूल में गम्भीर हेतु होगा, जबकि औरों का भोगमय व बालिश होगा।

१२८. यही बात नींद की।

यही स्थिति नींद की होगी। प्राणिमात्र को शरीर-धारण के लिए भोजन की तरह नींद भी आवश्यक क्रिया है। परन्तु दूसरे प्राणी जब सोते हैं तो आलसी की तरह पड़े भर रहते हैं, उन्हें सपने आते हैं और वे ज्ञान को भुला देते हैं। उनकी एक-एक रात ज्ञान-क्षय का निमित्त बनती है। परन्तु स्थितप्रज्ञ की नींद

निर्दोष व निःस्वप्न होती है। उसने एक नींद ली कि उतना ही उसका विचार-विकास हो गया। यों तो बीज जमीन में छिपा पड़ा रहता है। परन्तु वास्तव में वह अंकुरित होता रहता है। जब कल्ला फूटता है तो दिखाई देता है। इसी तरह उसकी नींद में नये-नये विचारों को पोषण मिलता रहता है। इस प्रकार दोनों की नींद में फर्क है। एक की नींद तमोगुण का उत्कर्ष है। कहाँ यह नींद और कहाँ वह जिसमें तीनों गुण साम्यावस्था को पहुँच गये हों, मूल प्रकृति में स्थित हो गये हों? यों दीखने में दोनों का आकार एक ही सा—परन्तु इससे क्या?

१२९. यही बात मामूली व्यवहार में।

यही बात साधारण व्यवहार के विषय में भी। मानापमान की नींव पर ही लोगों का बहुत-सा समाज-शास्त्र व नीति-शास्त्र रचा गया है। किन्तु इसकी तो मानापमान से जान-पहचान ही नहीं। मनुष्य सहसा कभी भी सहज भाव से खुला होकर नहीं बरतता। जहाँ-तहाँ शिष्टाचार के नाम पर उसे अपना व्यवहार दम्भ-परिवेष्टित रखना पड़ता है। उसका जीवन सदा पोशाक-पहनाव से ही सजा रहता है। हर जगह बनावट व ढोंग चाहिए। सभा में एक प्रकार का ढोंग तो समाज में दूसरे प्रकार का, कुटुम्ब में तीसरे प्रकार का, उत्सव में और तरह का, खेल में उससे भी अलग ढंग का, इस तरह सब जगह ढोंग और ऊपरी सजावट उसके जीवन में रहती है। परन्तु स्थितप्रज्ञ की सभी बातें स्वाभाविक, सरल व खुली होती हैं। इसी तरह उसका साधारण व्यवहार भी दूसरों से बिल्कुल साफ तौर पर उलटा दिखाई देगा।

(२)

१३०. यहाँ के रूपक की भाषा में सांख्य-बुद्धि, योग-बुद्धि

और स्थितप्रज्ञ के लक्षण तीनों एक में लपेट दिये हैं ।

परन्तु यद्यपि हमने गीता के रूपक की भाषा से इस तरह अपने विचार से अर्थ निकाला तो भी भला खुद गीता क्या सूचित करती है ? देखने में ऐसा मालूम होगा मानो कुछ भी नहीं सुझाती है, सिर्फ रूपक की भाषा बोलकर चुप रह जाती है। पर वस्तुतः ऐसा नहीं है। स्थित-प्रज्ञ के लक्षण के बाद गीता का दूसरा अध्याय और सूत्र रूप में गीता भी समाप्त हो जाती है। इसलिए जो विषय शुरू से विस्तार के साथ बताये उन सब का समावेश इस श्लोक में किया गया है। अबतक पहले तो निर्गुण सांख्यबुद्धि, फिर तदुपकारक सगुण योग-बुद्धि और अन्त में स्थितप्रज्ञ के लक्षण जिनमें इन दोनों की परिणति दिखाई देती है—ऐसे तीन विषय बताये गये हैं। इन तीनों विषयों का सार गीता इस श्लोक के रूपक द्वारा पेश करती है।

१३१. सांख्य-बुद्धि का स्वरूप : आत्मा का अकर्त्तापन, तदनुसार प्रस्तुत श्लोक का पहला अर्थ ।

(१) साँख्यबुद्धि का मतलब है आत्मा के स्वरूप का ज्ञान। तो यह ज्ञान प्राप्त कर लेने की झंझट शुरुआत में ही क्यों ? इसलिए कि आत्मा का ज्ञान किसी गैर का ज्ञान नहीं है। आत्मा कोई गैर नहीं है। वह मैं ही हूँ। अतः उसका स्वरूप सबसे पहले जान लेना जरूरी है। गीता कहती है—"आत्मा मरता नहीं, मारता नहीं, मरवाता नहीं।" मनुष्य का किसी क्रिया से संबंध तीन ही प्रकार से आता है—कर्त्तरि, कर्मणि और हेतुकर्त्तरि अथवा प्रेरक। ये तीनों आत्मा पर लागू नहीं होते। वह क्रिया का न कर्त्ता है, न कर्म है, न प्रेरक ही। इतना व्यापक अर्थ यहाँ

सूचित है। मरना-क्रिया को सिर्फ उदाहरण के तौर पर लिया गया है। इसका अर्थ यह है कि वह सब क्रियाओं से सब तरह अस्पृष्ट है। शांकर-भाष्य में आत्मा के इस अकर्त्ता-स्वरूप का विवरण आईने की तरह साफ किया गया है। आत्मा के अकर्त्ता-स्वरूप के ज्ञान को प्रकाश कहिए। इसके विपरीत अर्थात् आत्मा को कर्त्ता समझना अंधकार हुआ। इस अंधकार में तमाम प्राणियों का जीवन अन्धा बन गया है। परन्तु स्थितप्रज्ञ का जीवन आत्मा के प्रकाश से नित्य प्रकाशित है। यह प्रस्तुत श्लोक का पहला अर्थ है। साधारण मनुष्य 'मैं फलां कर्म का कर्ता, मेरे कर्म अच्छे, मैं फलाँ का बेटा, फलाँ सम्पत्ति का मालिक, मेरा यह आकार, यह उमर, यह जाति' इत्यादि भावनाओं का जाल अपने आस-पास फैलाकर असंख्य कर्मों का बोझ अपने ऊपर लाद लेता है। जबकि स्थितप्रज्ञ यह समझता है कि ये सब मुझ-पर लागू नहीं होते और सिर्फ 'स्वरूपावस्थान' इस एक ही धर्म को जानता है। इतना दोनों के जीवन में भेद है। तो फिर उसे प्रकाश व अन्धकार न कहें तो क्या कहें ?

१३२. योग-बुद्धि का स्वरूप : फलत्याग।

(२) योग-बुद्धि—आत्मा अकर्त्ता है, इसलिए यदि देह से भी कर्म छोड़ बैठोगे तो तमोगुण में जा पड़ोगे, इसके विपरीत यदि कर्म करोगे तो रजोगुण में पड़ोगे—ऐसा दुहेरा पेंच है। अतः गीता ने एक तरकीब निकाली। कर्तृत्व जहाँ जोर मारता हो वहीं उसे तोड़ डालो। तो कर्तृत्व जोर मारता कहाँ है? फल के अवसर पर। "मैंने काम किया है तो मैं वेतन का अधिकारी हूँ।" फल के संबंध में इस तरह कर्तृत्व का हक जोर मारता रहता है। अतः फल का अधिकार छोड़ देना ही मानो कर्त्तापन को छोड़ देना है। फलाशा की नोक तोड़ डालें तो फिर

कर्त्तृत्व-विषयक अभिमान चला जाता है। गीता कहती है—"तुमने आत्मा का अकर्त्तापन मान लिया है। तब जबकि कर्म ही तुम्हारा नहीं है तो फिर फल कहाँ से होगा ?" 'मैं देह से भिन्न अकर्त्ता हूँ' ऐसा अभ्यास कर्म को छोड़ देने से नहीं हो सकता। फल को छोड़ने से ही होगा। आत्मा के अकर्त्तापन की अनुभूति का आरम्भ कर्मच्छेदन से नहीं, फलच्छेदन से होता है। इस तरह बिल्कुल 'बालोद्यान'—पद्धति से अकर्त्तापन के अभ्यास का पदार्थ-पाठ गीता ने हमें पढ़ाया है। फल को तोड़ फेंकते जाओ तो फिर कर्मों को तोड़ फेंकने की जरूरत नहीं रहेगी। समाज-शास्त्र व नीति-शास्त्र के अनुसार तुम्हें फल का अधिकार है। परन्तु तुम तो अब गीता के अनुयायी हुए हो न ? गीता-माता का बच्चा होने का सौभाग्य तुम्हें प्राप्त हुआ है। अतः उसके बालक के अनुरूप ही फल-त्याग का ऐश्वर्य तुम्हें प्राप्त हुआ है।

१३३. आनुषंगिक चर्चा—'मा फलेषु' का यह अर्थ कि फल का अधिकार नहीं, गलत।

गीता का वचन जो फल को तोड़ डालने की युक्ति बताता है, प्रसिद्ध ही है।' 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन"। परन्तु इसका अर्थ ठीक नहीं किया जाता। 'तुम्हें कर्म करने का अधिकार है, फल का नहीं।' ऐसा इसका अर्थ किया जाता है। परन्तु जब यह पूछते हैं कि यदि कर्म का अधिकार है तो फिर फल का क्यों नहीं ? तो इसका उत्तर दिया जाता है कि फल पाना मनुष्य के हाथ की बात नहीं है। वह अनेकविध बाहरी परिस्थिति पर अवलम्बित है। अर्थात् यह दैववाद हुआ। इसमें बिल्कुल ही तथ्य न हो सो बात नहीं। परन्तु उससे यहाँ के हमारे विचार सिद्ध नहीं हो सकते। क्योंकि यदि और जिस कारण से फल पाना मनुष्य के हाथ में नहीं है, तो और उसी

कारण से कर्म भी मनुष्य के हाथ में नहीं है। दोनों अनेकविध बाह्य परिस्थिति पर अवलम्बित रहते हैं। जो बात फल के विषय में है वही कर्म के विषय में भी है। यदि कर्म का अधिकार है तो फल का भी है। भले ही परिपूर्ण न हो, आंशिक ही हो; पर है जरूर। यदि फल का अधिकार नहीं है तो फिर कर्म का भी नहीं हो सकता। अतः यह अर्थ हमारे काम का नहीं है।

१३४. फल का अधिकार तो है, पर उसे छोड़ देना है।

तो फिर इस वचन का सही अर्थ क्या है ? इसके लिए जरा संस्कृत के व्याकरण पर ध्यान देना होगा। यहाँ 'मा फलेषु' कहा है, 'न फलेषु' नहीं। व्याकरण के अनुसार 'मा' के बाद 'अस्ति' या 'भवति' ऐसी वर्तमानकालीन क्रिया नहीं आती। 'अस्तु' या 'भवतु' ऐसा रूप आता है। तदनुसार 'कर्मणि एव ते अधिकारः अस्तु, फलेषु मा अस्तु।" इस तरह पूरा वाक्य बनता है। उसका अर्थ है 'कर्म का ही तुझे अधिकार रहे, फल का नहीं।' परन्तु व्याकरण के अनुसार यद्यपि हमने ऐसा अर्थ-शोधन किया तो भी आखिर कहना क्या है ? यह कि "कर्म का अधिकार है, अतएव फल का भी है, लेकिन तू कर्म का अधिकार तो रख परन्तु फल का छोड़ दे।" यह क्यों ? तो गीता कहती है कि तुम्हारा तत्वज्ञान ही यह बताता है कि मैं कर्त्ता नहीं हूँ। अतः यदि तुम्हें अपने अकर्त्तापन का अनुभव करना हो तो तुम फल को ग्रहण मत करो।

१३५. नीति-शास्त्र की भूमिका : जिसका कर्म उसको फल।

इस विषय में स्थितप्रज्ञ की व औरों की भूमिका में बड़ा अन्तर है। साधारण लोगों की भूमिका यह कहती है—'करूंगा

तो फल के लिए ही, नहीं तो कर्म ही छोड़ दूंगा। लूंगा तो फल के सहित लूंगा, नहीं तो कर्म के सहित ही उसे छोड़ दूंगा।' इतना ही होता तो मेहरबानी थी। परन्तु कितने ही लोग तो इससे भी आगे चले जाने को तैयार हैं। 'कर्म न करते हुए ही फल मिल जाय तो बहुत बेहतर, नहीं ही मिले और कर्म किसी प्रकार टाला ही न जा सके तो करेंगे; परन्तु फल तो किसी भी दशा में नहीं छोड़ने के' ऐसी हीन वृत्ति से ही आज का सारा संसार भरा हुआ है। खुद मिहनत करके दूसरे की मिहनत का फायदा कैसे उठा लें, इसकी योजना दो-चार बदमाश ही नहीं बल्कि सारे राष्ट्र-के-राष्ट्र बना रहे हैं। नात्सीवाद, फाशीवाद, पूंजीवाद, साम्राज्यवाद—इस तरह के अनेक मुफ्त-खोरेवाद इस हीन वृत्ति का समर्थन करने के लिए रचे गये हैं। यह बात नहीं कि यह हालत आज ही हुई हो। आज उसका जोर ज्यादा है। प्राचीन काल से लेकर आज तक वह प्रायः अखण्ड चली आ रही है। यही कारण है जो गीता ने सारा सोलहवां अध्याय इस वृत्ति का निषेध करने के लिए, उसे आसुरी वृत्ति नाम देकर, खर्च किया है। इस तरह एक कर्म करे और दूसरा उसका फल छीन ले—ऐसी परिस्थिति समाज में होने के कारण 'जिसका कर्म उसीका फल' इतना भी पार पड़ जाय तो गंगा नहाये—ऐसी भूमिका नीति-शास्त्र व समाज-शास्त्र की है। इसलिए समाज-शास्त्र व नीति-शास्त्र इस बात पर जोर देते हैं कि समाज में योग्य व्यक्ति की ही प्रतिष्ठा हो। योग्य मनुष्य को ही फल मिले और समाज की रूढ़ वृत्ति का तथा इन दो शास्त्रों के सीमित क्षेत्र का विचार किया जाय तो उनकी यही भूमिका होनी उचित भी है।

१३६. योग-बुद्धि की भूमिका इससे ऊंची : तदनुसार इस श्लोक का दूसरा अर्थ ।

परन्तु गीता की भूमिका इससे ऊंची है। इस वजह से किसीको वह निरुपयोगी लगती हो तो भले लगे, परन्तु जैसी है वैसी ही उसे समझ लेना चाहिए। गीता कहती है—"कर्त्ता-पन के अभिमान से छूटने के लिए फल को अपने से अलग कर दे, ईश्वर को अर्पण कर दे, समाज को दे दे, चाहे तो हवा में फेंक दे, परन्तु तू खुद उसे मत ग्रहण कर। किसीके कहने से नहीं बल्कि इसलिए कि तेरा तत्त्वज्ञान ही इस विषय में बाधक होता है। तेरा तत्त्वज्ञान कहता है कि आत्मा से किसी क्रिया का संबंध नहीं है। और आत्मा को क्रिया का स्पर्श न होने देने की तरकीब है फल को छोड़ देना।" यह तत्त्वज्ञान ही गीता के कर्म-योग की बुनियाद है। बहुत लोग कहते हैं कि गीता के आरम्भ में ही यह तत्त्वज्ञान फिजूल डाल दिया। पहले कर्म-योग बताना चाहिए था। परन्तु यह खयाल गलत है। गीता का कर्मयोग आत्मा-ज्ञान की नींव पर ही खड़ा हो सकता है। वह केवल कर्म करने के लिए नहीं कहता बल्कि फल छोड़ने के लिए कहता है। यदि आत्मज्ञान-संबंधी भाग उसमें से निकाल डालें तो फिर फल-त्याग का तत्त्व टिक ही नहीं सकता। कर्मत्याग पूर्णरूप से सम्भवनीय नहीं। क्योंकि मैं यद्यपि आत्मस्वरूप हूँ तथापि वर्तमान स्थिति में शरीर से घिरा हुआ हूँ। दूसरी ओर, फलयुक्त कर्म का हिसाब ठीक नहीं बैठता। क्योंकि 'मैं अकर्त्ता हूँ'। यह भावना दृढ़ है। देह की बदौलत कर्म छूटता नहीं। और हमारे अपने तत्त्वज्ञान के कारण फल-युक्त कर्म का हिसाब बैठता नहीं। इस तरह इन दोनों तरफ की कठिनाइयों में से गीता ने फल त्याग-पूर्वक कर्म-योग की

युक्ति खोज निकाली है। चाहिए तो इसे "मुरारेस् तृतीयः पन्थाः" कहिए। परन्तु रेखा-गणित के प्रमेयों से जैसे उपप्रमेय निकलता है ठीक उसी तरह बिल्कुल तर्क-शुद्ध रीति से आत्मा के अकर्तापन में से फल-त्याग का सिद्धांत फलित होता है। ऐसे कर्म-योग की दृष्टि से "या निशा सर्वभूतानाम्" इस श्लोक की ओर देख सकते हैं। और इस तरह देखें तो फिर इस श्लोक का ऐसा अर्थ निकलता है—"दूसरे लोग फल के प्रति जागरूक रहते हैं और अपने कर्तव्य के प्रति सोते रहते हैं किन्तु स्थितप्रज्ञ सिर्फ फल के प्रति सोता है और कर्तव्य के विषय में जाग्रत रहता है।" यह इस श्लोक का दूसरा अभिप्रेत अर्थ है।

१३७. स्थितप्रज्ञ-लक्षणानुसार इस श्लोक का तीसरा अर्थ।

(३) स्थितप्रज्ञ के लक्षणानुसार इसका एक तीसरा भी अर्थ है। वस्तुतः तीनों अर्थ मूल में समान व एक ही हैं। परन्तु भिन्न-भिन्न भूमिकाओं से भिन्न-भिन्न अर्थ होते हैं। इन्द्रिय-निरोध को स्थितप्रज्ञ का लक्षण बताते हुए यह सिद्ध किया है कि भोगवाद से बुद्धि-नाश होता है और बुद्धि स्थिर होने के लिए संयम की आवश्यकता है। उसके अनुसार यहां स्थितप्रज्ञ भोगों के प्रति सोया हुआ और संयम के विषय में जागरूक, तो साधारण मनुष्य संयम के प्रति सोया हुआ व भोगों के विषय में जाग्रत—ऐसा अर्थ करना उचित है।

१३८. तीनों अर्थ-सूचक गीता के श्लोक में बताये संकेत।

इस तरह ये तीन अर्थ गीता के इस रूपक द्वारा सूचित किये गये हैं, ऐसा समझना चाहिए। जब यह देखने जाते हैं कि इस सूचना की कुछ ध्वनि या संकेत इस श्लोक में पाये जाते हैं या नहीं, तो 'पश्यन्' 'मुनि' और 'संयमी' ये तीन शब्द

हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। 'पश्यन्' शब्द से सांख्यबुद्धि-निष्ठ आत्म-ज्ञानी, 'मुनि' शब्द से योगबुद्धि-निष्ठ, कर्मयोगी, और 'संयमी' शब्द से उभय-बुद्धि-सम्पन्न स्थितप्रज्ञ जिसका प्रसंग यहां चल रहा है, ऐसे अर्थ समझने में आते हैं और यह निष्कर्ष निकलता है कि ये तीन अर्थ विशेष रूप से यहां सुझाने थे। परन्तु इस रूपक का सामान्य अर्थ तो यह है कि स्थितप्रज्ञ व साधारण मनुष्यों की जीवन-दृष्टियां ही बिल्कुल भिन्न होती हैं; अतएव इन तीन विशिष्ट अर्थों को ही न लेकर कुल मिलाकर सर्व-जीवनव्यापी अर्थ भी लिया जा सकेगा और वही हमने आरम्भ में लिया भी था। गहराई से देखें तो ऐसा ही दिखाई देगा कि ये तीन विशिष्ट अर्थ भी जीवनव्यापी हैं।

चौदहवाँ व्याख्यान

(१)

१३६. खुलासे का दूसरा सांकेतिक श्लोक। ज्ञानी समुद्र की तरह सब काम को पचा जाता है।

आज के श्लोक में स्थित-प्रज्ञ का वर्णन एक और तरह से किया है। पहले हम श्लोक को समझ लें।—'आपूर्यमाणं अचल-प्रतिष्ठं समुद्रं यद्वत् आपः प्रविशन्ति, तद्वत् सर्वे कामाः यं प्रविशन्ति, स शान्ति आप्नोति' यह एक वाक्य है। 'न काम कामी' दूसरा वाक्य। "आपूर्यमाणम्" का अर्थ है सब तरफ से सतत भरता रहने वाला। इतना होकर भी जो अपनी मर्यादा नहीं छोड़ता, अपनी प्रतिष्ठा से चलित नहीं होता "आपूर्यमाणं अपि, अचल-प्रतिष्ठम्" ऐसा 'अपि' शब्द का अध्याहार करना है। "समुद्र जिस तरह चारों ओर से आने वाला पानी अपने अन्दर समा लेता है फिर भी अपनी सीमा का उल्लंघन नहीं करता, उसी तरह स्थितप्रज्ञ अनेक कामों के चारों ओर से उसके अन्दर प्रवेश करते रहते भी विचलित नहीं होता, इसलिए वह शान्ति-लाभ करता है। जो कामों के पीछे दौड़ता है उसे वे प्राप्त नहीं होते।" ऐसा इस श्लोक का अक्षरार्थ है। श्लोक है तो बड़ा छटादार परन्तु समझने में जरा कठिन है।

१४०. काम-शब्द के अर्थ की छानबीन।

यहां पहले 'काम'-शब्द के अर्थ का विचार करना चाहिए। 'काम' शब्द का प्रयोग स्थितप्रज्ञ के लक्षणों में एक जगह एक वचन में हुआ है और दूसरी जगहों पर बहुवचन में। " संगात् सञ्जायते कामः" यहां 'काम' शब्द एक वचन में आया है। इस काम का अर्थ है मूल विकार। इस मूल काम से अवान्तर कामनाएं उत्पन्न होती हैं। इस एकवचनी काम के लिए हिन्दी में दूसरा शब्द नहीं है। अतः वह उसी शब्द से दर्शाया जायगा। बहुवचनी 'काम' शब्द बिल्कुल शुरू में "प्रजहाति यदा कामान्" यहां और अन्त में "विहाय कामान् यः सर्वान्" यहां एक ही तरह से आया है। इन दोनों स्थानों पर इसका अर्थ कामना लेना है। ये कामनाएं मनोगत होने के कारण उनका त्याग शक्य है, इष्ट है। वह अवश्य करना चाहिए। यह कहा गया है कि स्थितप्रज्ञ उस तरह का उनका त्याग कर चुकता है। इसके अलावा दूसरे प्रकार से बहुवचनी 'काम' शब्द इसी श्लोक में आया है। "कामाः यं प्रविशन्ति" यहां काम शब्द का अर्थ मनोगत कामना नहीं। "काम्यन्ते इति कामाः" जिसके विषय में कामना की जाय सो काम, ऐसी व्युत्पत्ति लगाकर उसका अर्थ यहां होता है बाह्य विषय, उपभोग्य पदार्थ, विषयभोग। इस अर्थ में 'काम' शब्द उपनिषद् में भी आया है। "ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके" अर्थात् 'जो जो विषय-भोग इस जगत् में दुर्लभ हैं, वे सब मैं तुझे देता हूँ, ऐसा प्रलोभन यम ने नचिकेता को दिया है। इस वाक्य में काम शब्द का अर्थ 'बाह्य उपभोग-विषय' ऐसा है। यही अर्थ प्रस्तुत वाक्य में भी है। कुल मिलाकर मूल विकार 'काम', मनोगत 'कामना' और तदाधारभूत बाह्य

विषयों के 'भोग'—इस तरह काम शब्द के तीन मुख्य अर्थ हैं। बाह्य विषयों को कामना के आधारभूत कहने का कारण यह कि उनके आश्रय से मन में कामना जाग्रत होती है। ये विषय ही मन में कामना उत्पन्न होने के लिए कारण होते हों सो बात नहीं। वे कामना के निमित्त बनते हैं। अनेक जन्मों के पूर्व कर्म, अनेक नये व पुराने अनुभव और उनसे उत्पन्न संस्कार ये हमारे मन की कामनाओं के मूल कारण हैं। इन्हींके बदौलत इन बाह्य पदार्थों को उपभोग्यत्व अथवा विषयत्व प्राप्त होता है।

१४१. स्थित-प्रज्ञ सब काम को पचा लेता है, यह उसके ज्ञान का गौरव है।

समुद्र में जिस प्रकार चारों ओर से पानी एक-सा आता रहता है उसी तरह विश्व के अनंत विषय स्थितप्रज्ञ के समीप आते ही रहते हैं। आंख के सामने आंख के विषय, कान के सामने कान के विषय खड़े रहते हैं। परन्तु समुद्र जिस तरह तमाम पानी को अपने स्वरूप में ग्रहण करके आत्मसात कर लेता है उसी तरह स्थितप्रज्ञ सारे विषय-भोगों को अपने स्वरूप में मिला लेता है। आंखों को जो रूप दिखाई देगा, कानों में जो शब्द पड़ जायगा और इसी तरह दूसरी इन्द्रियों को उनके जो-जो विषय प्राप्त होंगे उन सब को वह आत्म-स्वरूप में लवलीन कर डालता है, मन पर उनका कुछ भी असर नहीं होने देता। अनुकूल व प्रतिकूल वेदना के रूप में बाह्य विषयों का असर मन पर होता रहता है। इसे मन का धर्म कहिए, विषय का कहिए या मन व विषय दोनों का मिलाकर कहिए, मुख्य बात यह कि इन विषयों को मिटाना संभव नहीं है। यदि हम यह तय करें कि हमारे संयम के लिए तमाम बाह्य विषय मिटा दिये जाएं तो फिर सारे संसार का ही लय कर देना

होगा, सो सम्भवनीय नहीं। उसकी जरूरत भी नहीं। बाहर के विषय इन्द्रियों के द्वारा प्रवेश करते रहते हैं तो भी स्थितप्रज्ञ के चित्त पर उनका प्रभाव नहीं पड़ता। उसकी स्थिति अडोल रहती है। इस तरह यहां स्थितप्रज्ञ पुरुष का वैभव बताया गया है। उसे बाह्य विषयों का त्याग नहीं करना है, बल्कि हृदयस्थ कामनाओं को मिटा देना है। और उन्हें तो वह छोड़ ही चुका है। उसे किसी भी विषय से दूर रहने की जरूरत नहीं। तमाम विषयों के बाजार में भी यदि उसे लाकर खड़ा कर दिया जाय तो भी वह अपनी स्थिति से डिगता नहीं। इसपर नीतिशास्त्र हमसे पूछेगा कि क्या उसका ग्रह्याग्राह्य-विवेक अथवा नीति-विचार नष्ट हो जाता है, तो उसका उत्तर यह है कि यह श्लोक इसलिए नहीं लिखा गया कि कौन-सा विषय ग्रहण करें व कौन-सा छोड़ें, इसका नीति-शास्त्र बतावें। इसमें तो ज्ञान की महिमा का बखान किया गया है। ज्ञानी पुरुष का गौरव गाया गया है।

(२)

१४२. ज्ञान के गौरव और ज्ञान के स्वरूप के बीच में उसका नीति-सूत्र है।

स्थितप्रज्ञ की अविचल स्थिति का वर्णन दो तरह से किया जा सकता है। एक ओर उसके समीप अत्यन्त परिशुद्ध कर्म भी असंभव और दूसरी ओर निषिद्ध कर्म भी सम्भव, एक ओर सब शुभाशुभ कर्मों का संन्यास, तो दूसरी ओर सब शुभाशुभ कर्मों का योग—ऐसी दोनों सिरे की अवस्थाएं बताकर स्थितप्रज्ञ का वर्णन किया जा सकता है। एक ओर यह कहा जायगा कि ज्ञानी कुछ भी नहीं करता, वह हाथ तक नहीं हिलाता, यहाँ तक कि अच्छे कर्म भी नहीं करता। तो इसके

विपरीत यह भी कहा जा सकेगा कि वह त्रिभुवन को आग लगा सकता है। फिर भी इन दोनों कथनों में विरोध न होगा। यही उसकी भूमिका की बहार है। विचारकों के ऐसे परस्पर-विरुद्ध प्रतिपादन में यह बहार दिखाई देती है। उदाहरणार्थ, श्रीशंकराचार्य प्रसिद्ध मुक्तिवादी अतएव सर्वकर्म-संन्यासवादी थे। उनका कहना था कि ज्ञानी से कर्म हो ही नहीं सकता। परन्तु वही अपने भाष्य में कहते हैं—"ज्ञानी समस्त कर्मों—निषिद्ध कर्मों—को भी कर के अकर्ता रहता है।" "सर्वकर्माण्यपि, निषिद्धान्यपि, कुर्वाणः।" यदि नीति-शास्त्र भाष्यकार से आग्रहपूर्वक प्रश्न करे कि क्या ज्ञानी सचमुच कोई निषिद्ध कर्म करेगा? तो वे उत्तर देंगे कि यहाँ मैं नीति-अनीति की चर्चा नहीं कर रहा हूँ, ज्ञान का गौरव बता रहा हूँ। यदि यह पूछोगे कि ज्ञानी क्या करेगा तो मेरी दृष्टि से वह शुद्ध अथवा अच्छे कर्म भी नहीं करेगा। वह कुछ भी नहीं करता। कोई हल-चल तक नहीं। परन्तु इसपर भी नीति-शास्त्र उनसे कहेगा कि आप तो ठेठ दूसरे सिरे पर जा पहुँचे। इसका उत्तर वे देंगे—"भैया, मैंने यह ज्ञानी का नीति-सूत्र नहीं बताया, उसके ज्ञान का स्वरूप बताया है।" अर्थात् एक ओर ज्ञान का गौरव बताया और दूसरी ओर ज्ञान का स्वरूप। स्थितप्रज्ञ के ज्ञान का स्वरूप यह कि वह कोई भी कर्म नहीं करता। उसके ज्ञान का गौरव यह है कि निषिद्ध कर्म भी उसे बाधक नहीं होते। स्थितप्रज्ञ के ज्ञान के स्वरूप और ज्ञान के गौरव के बीच में स्थितप्रज्ञ का नीति-सूत्र रहता है।

१४२. बीच में अर्थात् कहाँ? यह तत्कालीन समाज की भूमिका पर अवलम्बित रहेगा।

बीच में अर्थात् कहाँ? इसका निश्चित उत्तर देना अलबत्ते कठिन होगा। समाज जैसे-जैसे ऊंची भूमिका पर चढ़ता

जायगा वैसे-वैसे समाज के ज्ञानी मनुष्यों के विचार भी ज्यादा गहरे जाते जायंगे। कुल मिलाकर समाज का अनुभव जैसे-जैसे बढ़ता जायगा वैसे-वैसे स्थितप्रज्ञ की प्रज्ञा भी अधिक स्पष्ट होती जायगी। अर्थात् अनासक्ति में, अक्षरशः और व्यवहार की भाषा में, कौन-कौन से कर्म समा सकेंगे इसका मापदण्ड भी उत्तरोत्तर भिन्न होता जायगा। यदि पहले से अधिक आज समाज की प्रगति हुई होगी तो पहले के स्थितप्रज्ञों की अपेक्षा आज के स्थितप्रज्ञ अधिक प्रगत होंगे। ऐसा कहना है तो बड़े साहस का काम, परन्तु विचार के अन्त में दिखाई देगा कि वही यथार्थ है। स्थितप्रज्ञों को भी प्रगति की यह भाषा स्थूल अर्थ में ही ग्रहण करनी चाहिए। अर्थात् वह व्यावहारिक है, आन्तरिक नहीं। सब स्थित-प्रज्ञों की आन्तरिक पहचान एक ही रहेगी। उनकी आत्मस्थिति कभी भंग न होगी, सदा अविचलित रहेगी, यही वह पहचान है। अब उनके कर्म करने का नीति-सूत्र इस ढंग का होगा कि जिससे इस पहचान में कोई गड़बड़ न हो। यह बात उन्हें खुद अपने ही अनुभव से मालूम होती जायगी। ऐसी सुनिश्चित भाषा में जिसे सब लोग समझ सकें व जो सब काल के लिए हो, उसे प्रकट करना असंभव है।

१४४. ज्ञानी के नीति-सूत्रों के संबंध में ग्रान्थिक कल्पना अनर्थकारक।

अनुभव का आधार छोड़कर कल्पना से ही काम चला लेने से स्पष्टता होने के बजाय उलटा भ्रम पैदा हो जायगा। इसका उदाहरण कितने ही भक्ति-मार्गी और कर्मयोगवादी लोगों के विवेचनों में मिल जायगा। भक्ति-मार्ग वाले तो यहाँ तक आगे बढ़ गये हैं कि उन्होंने श्रीकृष्ण को व्यभिचारी तक मान लिया। अलबत्ते यह उनकी श्रीकृष्ण पर मेहरबानी है जो उन्होंने उन्हें

"अलिप्त' माना है। भले ही कहना हो तो कहिए कि उन्होंने श्रीकृष्ण की अनासक्ति में उनका तथाकथित व्यभिचार भी पच गया मान लेने में अपने भक्ति-भाव की उत्कटता प्रकट की है। इसी तरह कुछ कर्मयोगवादी प्रतिपादन करते हैं कि 'सब भूतों में भगवद्भाव' रखने वाला स्थितप्रज्ञ जबरदस्त हिंसात्मक लड़ाइयाँ भी लड़ सकता है। इसमें भी उन्होंने स्थितप्रज्ञ का नीति-सूत्र बताने की अपेक्षा अपनी कल्पना का वैभव ही प्रकट किया है। एक के लिए भागवत का आधार मिल गया तो दूसरे के लिए महाभारत का। विना आधार के तो कोई कुछ कहता नहीं। परन्तु आधार होना चाहिए आज की समाज-स्थिति में इस क्षण के प्रत्यक्ष स्वानुभव का। इस अनुभव के बल पर जो कुछ कहा जायगा वही यथार्थ समझा जायगा। परन्तु सो भी इसी काल के लिए। अगले काल के लिए वह वन्धनकारक नहीं हो सकता। परन्तु यदि स्थितप्रज्ञ का जैसा आन्तरिक लक्षण हमने तीनों काल के लिए ढूंढ निकाला है वैसा ही यदि त्रैकालिक नीति-सूत्र बताना हो तो "या निशा सर्वभूतानाम्" इस श्लोक के अनु-सार वताना होगा। अर्थात्, विवेक उसका नीति-सूत्र होगा।

(३)

१४५. इस श्लोक को देखने की दूसरी दृष्टि। स्थितप्रज्ञ भावावस्था में सब शुभ देखता है।

इस श्लोक के अर्थ के विषय में कुछ लोगों को तो भीति मालूम होती है और कुछ को विशेष प्रीति। नीति-निष्ठों को यह भीति मालूम होती है कि इस श्लोक में एक विचित्र नीति-सूत्र वताया गया है जिसके अनुसार यदि स्थितप्रज्ञ चलने लगे तो नीति ही उड़ जायगी। दूसरी ओर कितने ही लोगों को उससे इसलिए प्रीति होती है कि एक वार स्थितप्रज्ञ हो जाने से फिर

समुद्र की तरह हर बात को पचा सकेंगे, आचार-व्यवहार में कोई रोक-टोक न रहेगी। पर सच पूछिए तो यहाँ न भीति के लिए कोई गुंजाइश है और न प्रीति के लिए; क्योंकि हम अभी देख चुके हैं कि स्थितप्रज्ञ में सब विषय-भोगों के प्रविष्ट होते हुए भी वह तटस्थ रहता है—इस कथन के द्वारा स्थितप्रज्ञ के लिए कोई नीति-सूत्र नहीं,वल्कि उसकी आत्मस्थिति का गौरव बताया गया है। परन्तु इसकी अपेक्षा भी भिन्न दृष्टि से इस श्लोक की ओर देखा जा सकता है। यह तो सत्य ही है कि इसमें स्थित-प्रज्ञ का नीति-सूत्र नहीं बल्कि गौरव बताया गया है; परन्तु इसकी अपेक्षा भी उसमें मुख्यतः उसकी भाव-दृष्टि बताई गई है। स्थितप्रज्ञ तो एक ही; परन्तु उसकी भूमिकाएं अलग-अलग होती हैं। एक उसकी कर्मयोग की भूमिका, दूसरी ध्यान-भूमिका। कर्मयोग वाली भूमिका का आचार-सूत्र "या निशा-सर्व भूतानाम्" इस श्लोक में बताया गया है। इसमें उसकी जाग्रत विवेक-शक्ति का वर्णन है। उसे सत् व असत् का निरंतर भान रहता है व सत् को ग्रहण करके असत् का निराकरण करना यह उसके कर्मयोग-काल की भूमिका होती है। परन्तु समुद्र की उपमा वाले इस श्लोक में उसका ध्यान-योग की भूमिका का भाव बताया गया है। यहाँ उसकी भावना की व्यापकता व भव्यता का दर्शन है। उसकी विशाल व उदार दृष्टि के क्षेत्र में सारा विश्व समा जाता है। उसकी दृष्टि में सभी शुभ, सभी पावन, सभी मंगल दिखाई देता है।

१४६. शुभ+अशुभ=शुभ। क्योंकि अशुभ=०

वस्तुतः संसार में अशुभ का कोई स्वतंत्र अस्तित्व ही नहीं है। अशुभ शुभ के सहारे से आता है। अशुभ शुभ की छाया है। छाया से वस्तु का वस्तुत्व नहीं मिटता। उसमें कोई

फर्क भी नहीं आता। उलटा वस्तु स्पष्ट दीखती है। केवल सफेद कागज पर यदि बिना रंग के चित्र बनाने लगें तो वह बन ही नहीं सकेगा। कागज कोरा-का-कोरा रह जायगा। केवल शुभ अव्यक्त ही रहेगा। वह साकार नहीं होगा। ईश्वरी योजना में शुभ के स्पष्ट दिखाने के लोभ से अशुभ का प्रादुर्भाव हुआ। मनुष्य की छाया का कुछ भी मूल्य नहीं। इस जेल में ५० कैदी हैं। उनकी पचास, सौ या डेढ़सौ छायाएं पड़ सकेंगी। परन्तु इसलिए कोई कैदियों की 'गिनती' करते समय सौ, डेढ़सौ या दोसौ नहीं गिनता, क्योंकि छाया की कोई सत्ता नहीं। अर्थात् वह अभाव-रूप ही है। अंधकार का वर्णन करते समय हम उसे प्रकाश का अभाव कहते हैं। प्रकाश को अंधकार का अभाव नहीं कहते। अंधकार कोई वस्तु नहीं है। प्रकाश वस्तु है। प्रकाश को दिखाने के लिए अंधकार काम आया। शुभ का रूप दिखाना ही अशुभ का कार्य है। अतः स्थितप्रज्ञ उससे नहीं डरता। उससे उसकी वृत्ति का मांगल्य नहीं बिगड़ता। बल्कि अशुभ का शुभ पर उपकार ही हुआ, उसने शुभ को प्रकट किया, उसमें उठाव—स्पष्टता ला दी, इस दृष्टि से वह देखता है। उसकी सर्व-संग्राहक भावना को सारा शुभ-अशुभ विश्व स्वीकार्य ही लगता है या यों कहें कि उसकी दृष्टि को शुभ-अशुभ मिलाकर शुभ ही दीखता है। गणित की भाषा में उसका दर्शन इस तरह कराया जा सकता है—शुभ + अशुभ = शुभ। क्योंकि अशुभ = ० तो फिर इस शून्य की आवश्यकता ही क्या है ? यह चाहिए किसलिए ? क्योंकि उसकी बदौलत सारा गणित-शास्त्र बन पाया। शून्य की चाहे कुछ भी कीमत न हो तो भी एक पर शून्य रखने से दस हो जाते हैं। उसकी सन्निधि में एक की प्रभा फैल जाती है। इस तरह शुभ की शोभा को खिलाकर मानो अशुभ भी सुशोभित हो गया है।

१४७. अशुभ मिथ्या, साधना मिथ्या, अशुभ का मरण मिथ्या। केवल एक शुभ सत्य। यह है भावावस्था।

यह मानकर कि यह तत्वज्ञान—सिद्धान्त—तो बड़ा सुविधाजनक है, अशुभ के लोभ से जो शुभाशुभ-मिश्रण को स्वीकार कर लेंगे वे मानो अपनी आत्महत्या ही करेंगे। अशुभ-मिश्रित शुभ भी अशुभ ही है। विष-मिला अन्न भी विष ही है। अतः जो यह कहता है कि नीति-शास्त्र शुभाशुभ के मिश्रण पर खड़ा करना चाहिए, मानो उसने आत्मनाश की ही तैयारी कर ली। स्थितप्रज्ञ की दृष्टि ऐसी नहीं। वह अशुभ को अशुभ के रूप में ग्रहण नहीं करता। अशुभ का मोह उसे नहीं। यह हमने देख ही लिया है कि अपनी कृतियों में वह शुभाशुभ-विवेक को कभी नहीं छोड़ता। परन्तु उसकी कृति व दृष्टि में अन्तर होता है। उसकी जगद्विषयक दृष्टि ऐसी रहती है कि उसे जगत् में अशुभ का दर्शन ही नहीं होता। अच्छों के साथ बुरों को भी वह कहता है—"तुम सब आओ। सब मेरे ही तो हो।" यदि वे कहें कि "हम तो अशुभ हैं" तो वह उन्हें कहेगा—"तुम अपने को अशुभ कहते हो, पर वस्तुतः तुम अशुभ नहीं। कहो कि हम अशुभ नहीं हैं।" फिर भी जिनका यही आग्रह है कि 'हम तो अशुभ हैं' उन्हें वह पावन कर लेता है। उसकी पावन दृष्टि से अशुभ को शुभत्व प्राप्त हो जाता है। अशुभ एक भ्रम है। भूत या हौवा की तरह अशुभ की स्थिति है। शिक्षक लड़के से कहते हैं—न कहीं भूत है, न हौवा। परन्तु लड़के की समझ में नहीं आता। घर आकर वह मां से कहता है-देख, वह हौवा दीखता है न, नहीं कैसे? तब मां कहती है, अच्छा, ले मैं उसे मंत्र मारकर भगा देती हूँ। लड़का समझता है कि मां ने हौवा को मार

डाला। उसको तसल्ली हो जाती है। ज्ञानी कहता है, तुम सब शुभ हो, शुद्ध हो। तुममें कोई दोष नहीं, बिगाड़ नहीं; तुम्हें कुछ नहीं हुआ। तब भी जो कहते हैं कि हम तो खराब हैं, तो वह कहता है—अच्छा मैं तुम्हें मंत्र बताता हूँ, साधना बताता हूँ। परन्तु वह केवल हौवा को मिटा डालने भर के लिए। अशुभ मिथ्या, साधना मिथ्या, अशुभ का मरण भी मिथ्या, केवल एक शुभमात्र सत्य। जिसकी दृष्टि ही ऐसी बन गई कि संसार में शुभ के सिवा कुछ भी नहीं, उसे शान्ति प्राप्त होती है। पर इसे क्या शब्द द्वारा बताने की जरूरत है?

पन्द्रहवाँ व्याख्यान

(१)

१४८. स्थितप्रज्ञ-लक्षणों का उपसंहार । स्थितप्रज्ञ को कोई कामना नहीं, जिजीविषा नहीं ।

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥

अर्थ—सब कामना छोड़कर जो पुरुष निःस्पृह होकर विचरता है, जिसकी अहंता व ममता चली गई है, वह शान्तिरूप ही हो गया। यह स्थितप्रज्ञ-प्रकरण का उपसंहार-वाक्य है। स्थितप्रज्ञ के लक्षणों की शुरुआत कामना-त्याग से की गई है। यहाँ उसका उपसंहार भी कामना-त्याग से ही किया है। 'सब कामना छोड़कर जो निःस्पृह हो जाता है उसे शान्ति मिलती है' यह अन्तिम वाक्य है। स्पृहा का अर्थ है वासना किंवा कामना। सो तो छोड़ ही चुके हैं। तो फिर अब और निःस्पृह कहने से क्या मतलब? जब सब कामनाएं छोड़ दीं तो फिर स्पृहा भी छोड़ दी। तब 'निःस्पृह' शब्द क्यों लाया गया? "जिसने सब कामनाएं छोड़ दी हैं और फिर स्पृहा भी छोड़ दी है" ऐसा कहने में पुनरुक्ति नहीं है। 'स्पृहा' के द्वारा यहाँ मूल 'अभिलाषा' अर्थात् जीने की अभिलाषा व्यक्त की गई है। उसका विशेष उल्लेख ब्राह्मण-परिव्राजक-न्याय से किया गया है।

यजमान ने ब्राह्मणों को निमंत्रण दिया। भोजन के समय पूछा 'सब ब्राह्मण आ गये न ?' जवाब मिला–'हाँ, सब आ गये ?' फिर पूछा–'वे संन्यासी भी ?' जवाब–'हाँ, वे भी आ गये।' ब्राह्मणों में संन्यासी आ ही गये। परन्तु संन्यासियों का विशेष महत्त्व होने से स्वतंत्र रूप से पृच्छा की। इसे ब्राह्मण-परिव्राजक न्याय कहते हैं। इस न्याय से यह शब्द यहाँ आ गया। यह कहते ही कि उसकी सब कामनाएं छूट गईं, पूछा–'सब कामनाएं छूट गईं तो जीवन-विषयक कामना भी छूट गई न ?' उत्तर मिला—'हाँ'। विशेष रूप से उल्लेख करने का कारण यह कि अवान्तर सब कामनाएं छोड़ देने पर भी जीने की वासना कायम रह सकती है। अतएव बताया कि 'वह उसे भी छोड़ चुका होता है।'

१४९. मुमूर्षा भी नहीं, मरण की भीति भी नहीं।

जीने की इच्छा छोड़ता है, इसका अर्थ क्या यह है कि मरने की इच्छा रखता है ? नहीं जीने की इच्छा के साथ ही मरने की इच्छा भी छोड़ देता है। तो कहते हैं–क्या मरने की भी इच्छा किसीको होती है ? इसका उत्तर यह है कि कभी-कभी होती है। हम मनुष्यों को आत्महत्या करते देखते हैं। स्थितप्रज्ञ जीवन से ऊबा हुआ नहीं होता। जीने की इच्छा के साथ ही वह मरने की अभिलाषा भी छोड़ देता है। पर इसका अर्थ यह नहीं कि सारे जीवन के प्रति ही उसके मन में उदासीनता आ जाती है। बाज-बाज बूढ़े आदमी कहते हैं–'अब हमें कै दिन जीना है ? दस गये, पाँच रहे।' उनके मन में जीवन का रस नहीं रह जाता। अतः वे उदासीन हो जाते हैं। परन्तु स्थितप्रज्ञ की स्थिति इसके विपरीत होती है। जीवन की अभिलाषा चली जाने से उसका मृत्यु का भय मिट जाता है। तब फिर जीवन में

बस आनन्द व खेल बाकी रहता है। उसका जीवन लीलामय ही रहता है। आगे गीता में भक्तों के लक्षण बताते हुए दसवें अध्याय में कहा है "तुष्यन्ति च रमन्ति च" तब वे सन्तुष्ट होकर क्रीड़ा करते रहते हैं। तुकाराम कहते हैं—

तुका म्हणे मुक्ति परिणिली नोवरी।
आतां दीस चारी खेली-मेली॥

अर्थात् मुक्तिरूपी वधू से विवाह हो गया है, अब चारों ओर आनन्द-ही-आनन्द—खेल-कूद ही हो रहा है।" ऐसा उनका जीवन आनन्दमय होता है।

१५०. जीवन की अभिलाषा ही वास्तविक मरण की भीति। उसके जाते ही जीवन आनन्दमय हो जाता है।

जीवन की अभिलाषा ही वास्तविक मरण की भीति है। एक ही वस्तु के ये दो पहलू हैं। लड़ाई पर जाने वाले सैनिक सदा हंसने-खेलने व खेल-तमाशे में मस्त रहते हैं। पास्कल कहता है—इसका कारण यह है कि मरण उनकी आँखों के सामने प्रतिक्षण मौजूद रहता है। उसे भूलने के लिए वे आनन्द का यह आभास खड़ा करते हैं। मन में जीवनाभिलाषा का, दूसरे शब्दों में मरण-भय का काँटा चुभता रहता है। उसका दुःख भूलने के लिए हंस-खेलकर उन्मादावस्था लाने का प्रयत्न करते हैं। यों भी जीवन में ऐसा अनुभव आता है। खूब हंसने-खेलने वाले लोग हम अक्सर देखते हैं। जब हम उनके निकट परिचय में आते हैं तो मालूम होता है कि उनमें कितने ही भीतर से दुःखी होते हैं। दुःख के उस शूल को भूलने के लिए वे जान-बूझकर हास्य-विनोद का वातावरण खड़ा करना चाहते हैं। मन की ग्लानि को ढाँपने के लिए यह सारा उद्योग होता है। मनुष्य के मन को जो सबसे ज्यादा चुभता है वह है

जीवनाभिलाषारूपी शूल। मरने तक वह चुभता ही रहता है और मरने के बाद भी पीछा नहीं छोड़ता। अतएव उसका दुःख भूलने के लिए वह भिन्न-भिन्न उत्सव व समारोह के रूप में कृत्रिम वातावरण खड़ा करने की कोशिश करता है। परन्तु जिसने जीने की वासना ही छोड़ दी है, उसके सारे दुःख अपने-आप मिट जाते हैं। जीवन का काँटा ही चला गया न। तब सारी चिन्ता मिट गई। जीवन शुद्ध आनन्दमय हो गया।

१५१. 'चरति' पद के द्वारा यही सूचित किया है।

छोटे बच्चों के जीवन में जो इतना आनन्द दिखाई देता है उसका रहस्य भी यही है। उनको जीने की चिन्ता नहीं रहती है। अलबत्ते इसके मूल में उनका अज्ञान होता है। पर यह बात पक्की है कि उन्हें किसी बात की फिक्र नहीं होती। बच्चा खेलने में मग्न रहता है। उसे खाने-पीने का भी भान नहीं रहता। उसकी भूख-प्यास माँ को लगती है। इन सबसे उसका कोई सरोकार ही नहीं। छोटे बच्चे की इस अज्ञानमूलक दशा की तरह स्थित-प्रज्ञ की ज्ञानमूलक दशा होती है। वही यहाँ बताई गई है। 'चरति' शब्द का मर्म यही है। 'चरति' याने खेलता है, कूदता है, विचरता है। उसके जीवन में दुःख जैसी कोई चीज ही नहीं रहती। प्रतिज्ञा का पुनरुच्चार निगमन में किया जाता है। 'प्रजहाति यदा कामान्' इत्यादि श्लोकों में की हुई प्रतिज्ञा का स्वरूप इकहरा नहीं है। मूल प्रतिज्ञा में इतना ही नहीं कहा है कि सब कामनाएं छोड़ देता है। उसके साथ ही उसका दूसरा लक्षण भी बताया गया है—आत्मा में ही सन्तुष्ट रहता है। प्रतिज्ञा का यह उभयविध अर्थ निगमन में भी आना चाहिए। सारी कामनाएं छोड़ने के बाद वह अपनी आत्मा के आनन्दरूपी स्रोत में मग्न हो जाता है। यह भाव यहाँ

'चरति' शब्द के द्वारा प्रदर्शित किया गया है। बाहर की वासनाएं चली जाने से अब भीतर का केवल विशुद्ध आनन्द बाकी रह गया।

१५२. 'चरति' का अर्थ 'विषयान् चरति' नहीं।

'चरति' शब्द का इससे एक जुदा अर्थ बताया गया है। तिलक महाराज ने 'गीता-रहस्य' में उसका विवरण किया है। पहले एक श्लोक में 'विषयान् चरन्' ऐसे पद आये हैं। वे कहते हैं कि 'चरति' शब्द का यहाँ वही अर्थ करना चाहिए। उनके अनुसार 'चरति' का अर्थ है संयमपूर्वक इन्द्रियों का युक्त व्यापार करता है। यह अर्थ भी अनुचित नहीं है। क्योंकि यह बात नहीं कि स्थित-प्रज्ञ इन्द्रियों से कुछ काम ही नहीं लेगा। आँखों से देखना, कानों से सुनना उसके लिए मना नहीं है। सेवा के लिए वह ये सब काम करेगा। परन्तु ऐसा अर्थ करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। क्योंकि इस श्लोक में स्थित-प्रज्ञ की पूर्ण व्याख्या का निगमन है। अतः "विषयान् चरन्" जैसा अर्थ यहाँ अपेक्षित नहीं है। फिर 'चरन्' वहाँ सकर्मक है, यहाँ 'चरति' अकर्मक है। और कर्म के अध्याहार की बिना कारण कल्पना करना उचित नहीं है।

१५३. 'चरति' का अर्थ आश्रम-संन्यास नहीं।

दूसरा भी एक अर्थ स्मृति-वचनों के अनुसार किया जाता है। स्मृति का यह विधान है कि संन्यासी पुरुष सर्वसंग परित्याग करके सदा विचरता रहे। उसका स्मरण 'चरति' शब्द से होता है। परन्तु स्थित-प्रज्ञ के लिए कोई भी विधान करने की गीता की प्रवृत्ति नहीं। क्योंकि वह ऐसी स्थिति में ही नहीं होता कि उसके लिए कोई विधान किया जाय। स्मृति वाला विधान तो आश्रम-संन्यास से संबंध रखता है, व साधकावस्था के अनुसार

ही है। वह इस प्रकार है—अनेक प्रकार का अनुभव प्राप्त कर चुकने वाले साधक को अनासक्त रहना चाहिए, वह एक जगह रहकर आसक्ति में न पड़े, सतत फिरता रहे, जिससे परिग्रह न बंधने पावे। परन्तु स्थित-प्रज्ञ के लिए ऐसा विधान कौन बनावेगा? उसे ऐसे विधान की जरूरत भी क्या है? वह अपना विधान खुद ही जानता है। यदि यह मानें कि यह विधान नहीं वर्णन है, तो ज्ञानी पुरुष का स्थूल-चरित्र वर्णन करने की प्रवृत्ति गीता में कहीं नहीं पाई जाती। ऐसे स्थूल-चरित्र की कल्पना भी गीता ने नहीं की है। तो भी यदि 'चरति' शब्द से संन्यासाश्रम-संबंधी स्मृति-वचन का स्मरण होता है, ऐसा कोई कहे और पहचान के तौर पर उसका उपयोग करे तो हमें आपत्ति नहीं है। परन्तु उसका ऐसा शाब्दिक अर्थ अलबत्ते हम यहाँ हरगिज नहीं होने देंगे।

१५४. 'चरति' याने विहार करता है। ज्ञानदेव की भाषा में—

"विचरे विश्व होकर। विश्वमध्य।" यहाँ की तरह आगे भक्त के लक्षणों में 'अनिकेतः स्थिरमतिः" ऐसा एक लक्षण बताया गया है। इसका भी अक्षरार्थ ऐसा हो सकता है—'उसका कहीं भी घर नहीं होता।' अर्थात् वह 'सतत फिरता रहता है।' परन्तु इस अर्थ को पचाकर ज्ञानदेव ने उसमें से नवीन व सरस निचोड़ निकाला है—

"वायूसि एक ठाईं । विढार जैसे नाहीं ।
तैसा न धरीच कहीं । आश्रयो जो ॥
हें विश्व चि माझे घर । ऐसी मति जयाची स्थिर ।
किंबहुना सचराचर । आपण जाला ॥"

अर्थात्—"जैसे वायु का कहीं एक जगह डेरा नहीं होता वैसे जो कहीं भी आश्रय लेकर नहीं रहता; जिसकी यह मति

'चरति' शब्द के द्वारा प्रदर्शित किया गया है। बाहर की वास-नाएं चली जाने से अब भीतर का केवल विशुद्ध आनन्द बाकी रह गया।

१५२. 'चरति' का अर्थ 'विषयान् चरति' नहीं।

'चरति' शब्द का इससे एक जुदा अर्थ बताया गया है। तिलक महाराज ने 'गीता-रहस्य' में उसका विवरण किया है। पहले एक श्लोक में 'विषयान् चरन्' ऐसे पद आये हैं। वे कहते हैं कि 'चरति' शब्द का यहाँ वही अर्थ करना चाहिए। उनके अनुसार 'चरति' का अर्थ है संयमपूर्वक इन्द्रियों का युक्त व्यापार करता है। यह अर्थ भी अनुचित नहीं है। क्योंकि यह बात नहीं कि स्थित-प्रज्ञ इन्द्रियों से कुछ काम ही नहीं लेगा। आँखों से देखना, कानों से सुनना उसके लिए मना नहीं है। सेवा के लिए वह ये सब काम करेगा। परन्तु ऐसा अर्थ करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। क्योंकि इस श्लोक में स्थित-प्रज्ञ की पूर्ण व्याख्या का निगमन है। अतः "विषयान् चरन्" जैसा अर्थ यहाँ अपेक्षित नहीं है। फिर 'चरन्' वहाँ सकर्मक है, यहाँ 'चरति' अकर्मक है। और कर्म के अध्याहार की बिना कारण कल्पना करना उचित नहीं है।

१५३. 'चरति' का अर्थ आश्रम-संन्यास नहीं।

दूसरा भी एक अर्थ स्मृति-वचनों के अनुसार किया जाता है। स्मृति का यह विधान है कि संन्यासी पुरुष सर्वसंग परित्याग करके सदा विचरता रहे। उसका स्मरण 'चरति' शब्द से होता है। परन्तु स्थित-प्रज्ञ के लिए कोई भी विधान करने की गीता की प्रवृत्ति नहीं। क्योंकि वह ऐसी स्थिति में ही नहीं होता कि उसके लिए कोई विधान किया जाय। स्मृति वाला विधान तो आश्रम-संन्यास से संबंध रखता है, व साधकावस्था के अनुसार

ही है। वह इस प्रकार है—अनेक प्रकार का अनुभव प्राप्त कर चुकने वाले साधक को अनासक्त रहना चाहिए, वह एक जगह रहकर आसक्ति में न पड़े, सतत फिरता रहे, जिससे परिग्रह न बंधने पावे। परन्तु स्थित-प्रज्ञ के लिए ऐसा विधान कौन बनायेगा? उसे ऐसे विधान की जरूरत भी क्या है? वह अपना विधान खुद ही जानता है। यदि यह मानें कि यह विधान नहीं वर्णन है, तो ज्ञानी पुरुष का स्थूल-चरित्र वर्णन करने की प्रवृत्ति गीता में कहीं नहीं पाई जाती। ऐसे स्थूल-चरित्र की कल्पना भी गीता ने नहीं की है। तो भी यदि 'चरति' शब्द से संन्यासाश्रम-संबंधी स्मृति-वचन का स्मरण होता है, ऐसा कोई कहे और पहचान के तौर पर उसका उपयोग करे तो हमें आपत्ति नहीं है। परन्तु उसका ऐसा शाब्दिक अर्थ अलबत्ते हम यहाँ हरगिज नहीं होने देंगे।

१५८. 'चरति' याने विहार करता है। ज्ञानदेव की भाषा में—

"विचरे विश्व होकर। विश्वमध्य।" यहाँ की तरह आगे भक्त के लक्षणों में 'अनिकेतः स्थिरमतिः' ऐसा एक लक्षण बताया गया है। इसका भी अक्षरार्थ ऐसा हो सकता है—'उसका कहीं भी घर नहीं होता।' अर्थात् वह 'सतत फिरता रहता है।' परन्तु इस अर्थ को पचाकर ज्ञानदेव ने उसमें से नवीन व सरस निचोड़ निकाला है—

"वायूसि एक ठाईं। विढार जैसे नाहीं।
तैसा न धरीच कहीं। आश्रयो जो॥
हें विश्व चि माजे घर। ऐसी मति जयाची स्थिर।
किंबहुना सचराचर। आपण जाला॥"

अर्थात्—"जैसे वायु का कहीं एक जगह डेरा नहीं होता वैसे जो कहीं भी आश्रय लेकर नहीं रहता; जिसकी यह म

स्थिर हो गई है कि सारा विश्व ही मेरा घर है, बल्कि जो खुद ही चराचर-रूप हो गया।" सारा विश्व ही उसका घर हो गया। वह बे-घर का नहीं रहा ! ऐसी ही विचारशीलता ज्ञानदेव ने इस जगह भी अर्थ करने में दिखाई है। 'चरति' शब्द का अर्थ यहाँ उन्होंने किया है 'विचरे विश्व होकर, विश्व-मध्य।' अक्षरार्थ भी न छूटने पावे और उसका बोझ भी न पड़ने पावे—ऐसी कुशलता से भाष्य करने की कला ज्ञानदेव ने यहाँ दिखाई है। संस्कृत में ज्ञानी पुरुष के संचार के लिए 'विहार' शब्द है। हमारे देश में भी पूर्व में एक विहार यानी विहार-प्रान्त है। किसी ज्ञानी पुरुष के विहार के स्मारक के रूप में एक सारे प्रान्त का ही नाम विहार रख देने का ऐसा उदाहरण बहुत कम मिलता है। बुद्ध के विहार की स्मृति के रूप में हमारे धर्मप्राण पूर्वजों ने इस प्रान्त का नाम 'विहार' रख दिया। 'विहार' का अर्थ है सहज आनन्द से सैर करना, क्रीड़ा करना, खेलना, विचरना—यही अर्थ यहाँ 'चरति' शब्द के द्वारा अभिप्रेत है। समस्त कामनाओं का व जीवनस्पृहा का भी निरास हो जाने के बाद जीवन एक विहार अथवा क्रीड़ा ही बन जाता है।

१५५. कामना और जीवनाभिलाषा छूटने पर अब शरीर बाकी रहा सो केवल उपकारार्थ। 'निर्ममो निरहंकारः' पद से यही भाव सूचित किया है।

परन्तु तब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जिसके लिए जीवनाभिलाषा ही बाकी नहीं रही और महज शरीर ही बच रहा, तो उसके लिए अब काम क्या रहा ? तत्व-ज्ञान में यह प्रश्न हमेशा खड़ा होता है। क्योंकि यह सिद्धान्त है कि बिना कार्य के कोई भी वस्तु नहीं रह सकती। उसका उत्तर तुकाराम ने दिया है—"तुका कहे देह। बचा उपकार-अर्थ।" स्थित-प्रज्ञ

तो विश्वमय हो जाता है, 'मैं व मेरा' यह भाषा ही वहाँ नहीं रहती। वह लोगों से कहता है—"अब न मैं हूँ। न मेरा है, जो कुछ है सो तुम व तुम्हारा है। तुम अपना संभालो," यही अर्थ अगले चरण में समाविष्ट है।'निर्ममो निरहंकारः' वह सब भूतों पर उपकार करने के लिए ही जीवित रहता है। परन्तु उसके शरीर के लिए सामाजिक कार्य हो तो भी उसे खुद कोई सामाजिक कामना नहीं होती। इसका यह अर्थ न समझ लेना चाहिए कि उसकी व्यक्तिगत कामना मिटकर सामाजिक कामना बाकी रहती है। 'सर्व कामना' में सामाजिक कामनाएं भी आ गईं। उन्हें भी वह छोड़ देता है। तो फिर वह सामाजिक कार्य कैसे करता है? वह उसके साधक अवस्था और सामाजिक आवश्यकता के प्रवाह से उसके द्वारा होता है। साधकावस्था की प्रेरणाएँ उसके स्वभाव में घुल-मिलकर उसके अंग-रूप बन जाती हैं व दूसरी तरफ समाज की आवश्यकता का प्रवाह तो सतत बहता ही रहता है। ये उससे काम करवा लेते हैं। इस तरह वह महज प्रवाह-पतित होता है। जिसकी ऐसी स्थिति हो उसे शान्ति प्राप्त हो तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। शान्ति पर अधिकार उसीका है। क्योंकि अशान्ति के सब कारण उसके जीवन से चले गये हैं। अहन्ता-ममता गई, शुभाशुभ कामना गई, जीवन-स्पृहा गई, अब अशान्ति किस बात से रहे? अब तो शान्ति-ही-शान्ति बाकी रह गई।

(३)

१५६. पूर्वोक्त भावावस्था और क्रियावस्था से भिन्न स्थित-प्रज्ञ की यह ज्ञानावस्था बिल्कुल अवर्णनीय।

पिछले श्लोक में स्थितप्रज्ञ की भावावस्था का वर्णन किया

गया। यहां ज्ञानावस्था बताई गई है। वह मानो उस भावावस्था के वर्णन के बिल्कुल विपरीत दिखाई देती है। वहां शुभाशुभ सब कामनाओं का प्रवेश है, यहां दोनों के लिए दरवाजा बन्द है। ज्ञानावस्था में स्थितप्रज्ञ शुभ-अशुभ दोनों के उस पार चला जाता है। वहां कोई द्वन्द्व बाकी नहीं रहता। वहां न सृष्टि है, न दृष्टि। न ब्रह्माण्ड है, न पिण्ड। न यह है न वह। न नाम न रूप। न गुण न कर्म। न जाति न व्यक्ति। न सामान्य न विशेष। न इन्द्रियां न मन। न बुद्धि न अहंकार। तो फिर है क्या? यह कहने का साधन नहीं। क्योंकि वहां वाणी ही खतम हो जाती है। जहां वाणी शेष रहती है वहां वह अवस्था नहीं। यह कहें कि वहां स्वानुभूति है, तो यह भी गलत साबित होगा। उसे शून्य भी नहीं कह सकते। अशून्य भी वह नहीं। परन्तु इतना अलबत्ते निश्चित है कि कुछ है सही। वहां भावावस्था का भाव खतम हो जाता है। क्रियावस्था की क्रिया लुप्त हो जाती है। इससे अधिक उस अवस्था का वर्णन करना गैर जरूरी है। क्योंकि इतने वर्णन से भी उसपर कोई प्रकाश नहीं पड़ा।

१५७. भावावस्था में समग्रता है।

परन्तु भावावस्था में स्थितप्रज्ञ की भूमिका सम्पूर्ण विश्वरूप भगवान् को मान्य करने की होती है। उस समय उसकी भावना में समग्रता होती है। वहाँ विश्लेषण नहीं। किसी सुन्दर मूर्ति की नाक काटकर कोई ले आवे और पूछने लगे कि यह सुन्दर है? तो मैं कहूँगा कि सारी मूर्ति सुन्दर थी। उसके टुकड़े कर देने से टुकड़ों में सुन्दरता न रहेगी, समग्रता में सुन्दरता है। यह सारा विश्व शुभ व अशुभ मिलाकर मंगलरूप है। विश्वरूप में मिलकर लीन होने की, विश्वरूप का

आदर करने की, पूजने की, उसे सारे-का-सारा लील जाने की यह भूमिका है। "पूज के देव देखो" मूर्ति की पूजा करके फिर उसे देखोगे तो वह सुन्दर दिखाई देगी। "बीज बो खेत देखो" बिना बोये खेत पर जाओगे तो वहां घास-ही-घास दिखाई देगी। अपनी पवित्र भावना का ओढना उठाकर फिर संसार की ओर देखो तो वह परम पवित्र दिखाई देगा। मां अपने बच्चे को प्रेम से सजाती है, गहने-कपड़े पहनाती है। अतः वह उसको सुन्दर दिखाई देता है। इस तरह आत्मभावना से विश्व को सजाओ, चमकाओ, मण्डित करो, आच्छादित करो और फिर देखो। आत्मीयता के कारण वह सुन्दर व प्रिय दिखाई देगा।

१५८. क्रियावस्था में विवेक है।

इन दोनों से जुदा विवेक-प्रधान क्रियावस्था "या निशा-सर्व भूतानाम्" श्लोक में बताई गई है, सो हमने देख ही ली है। वहां शुभ बनाम अशुभ है। निष्कामता बनाम सकामता, अकर्तृत्व बनाम कर्तृत्व, संयम बनाम स्वच्छन्दता, सत् बनाम असत्, प्रकाश बनाम अन्धकार, ऐसा वहां झगड़ा है।

१५९. तीनों अवस्थाएं मिलाकर स्थित-प्रज्ञ की एक ही अखण्ड वृत्ति।

ज्ञानी पुरुष शरीर की अपेक्षा से भिन्न-भिन्न समयों में इन तीन अवस्थाओं को प्राप्त होता है। उसकी वृत्ति की अखण्डता को बाधा पहुँचाये बिना ये आती हैं और जाती हैं। सच पूछिए तो यह भाषा ही ठीक नहीं है कि उसे 'वृत्ति' शेष रहती है। उसे सचमुच कोई 'वृत्ति' शेष नहीं रहती।

"करणें कां न करणें। हें आघवें तो चि जाणे॥
विश्व चलतसे जेणें परमात्मेनि॥"

अर्थात् "जिस परमात्मा से यह जग सञ्चालित होता है वही अकेला जानता है कि क्या करें व क्या न करें"। ऐसी उसकी स्थिति होती है। भगवान् को उससे जो काम कराना मंजूर होता है, समाज को जैसी आवश्यकता होती है वैसा काम उससे हो जाता है। वह स्वयं प्रवृत्ति से कुछ भी नहीं करता। पानी उधर जाता है जिधर माली उसे ले जाता है। यदि गन्ने की तरफ ले गया तो वह उसकी मिठास बढ़ा देता है, राई की तरफ ले गया तो तेजी बढ़ा देगा। प्याज की क्यारी में ले गया तो उसका दर्जा बढ़ा देगा। इस तरह पानी खुद अपना कोई अभिमान नहीं रखता। स्थितप्रज्ञ ऐसा आग्रह नहीं रखता कि अमुक करूंगा, अमुक नहीं करूंगा अथवा कुछ-न-कुछ तो करूंगा ही या कुछ भी नहीं करूंगा। ईश्वर को उससे जो कुछ कराना मंजूर होगा वह करा लेगा। उसे खुद कोई प्रवृत्ति बाकी नहीं रही। अतः उसकी स्थिति के लिए निवृत्ति शब्द ही ठीक है। परन्तु यदि 'वृत्ति' शब्द का ही आग्रह हो तो उसे 'अखण्ड वृत्ति' कहिए। शरीर की दृष्टि से क्रियावस्था, भावावस्था व ज्ञानावस्था उसे प्राप्त होती हैं; परन्तु इन तीनों भूमिकाओं में विरोध नहीं है। इस कारण उसकी अखण्ड वृत्ति में अन्तर नहीं आता। क्रिया के समय वह सज्जन व दुर्जन का विवेक रखेगा, भावावस्था में सबका संग्रह करेगा। ज्ञानावस्था में कहेगा—मेरा कोई नहीं। इस तरह तीन स्वांग उसके होते हैं। इन तीन भूमिकाओं को मैं स्थितप्रज्ञ की त्रिसूत्री कहता हूँ। इस त्रिसूत्री का आधारभूत जो महान् प्रमेय है उसकी चर्चा आगे करेंगे।

सोलहवाँ व्याख्यान

(१)

१६०. स्थितप्रज्ञ की तिहेरी अवस्था के मूल में ईश्वर का त्रिविध स्वरूप ।

स्थितप्रज्ञ की जो अवस्था हमने देखी वह स्थूल अर्थ में ईश्वर की ही समझना चाहिए। उसकी जो तिहेरी अवस्था होती है उसका कारण भी यही है कि ईश्वर का स्वरूप त्रिविध है। स्थितप्रज्ञ की भूमिका की वही आधारभूत नींव है। ईश्वर को किसीने देखा नहीं। और ऐसे ही कहें तो मनुष्य को भी किसी-ने नहीं देखा। मनुष्य का बाह्य रूप प्रकट है। वैसे ही ईश्वर का भी बाह्य रूप प्रकट है। मनुष्य का अन्तःस्वरूप ईश्वर के अन्तःस्वरूप की तरह ही अप्रकट है। मनुष्य का प्रकट रूप छोटा-सा है। इसलिए वह मालूम होता-सा भासित होता है; किन्तु ईश्वर का तो प्रकट रूप यह अपरम्पार सृष्टि ही है। अतः वह मालूम न होता-सा प्रतीत होता है। सच पूछिए तो मनुष्य व ईश्वर दोनों एक ही से प्रकट वा अप्रकट हैं। परन्तु जैसे मनुष्य को जानने का साधन है वैसे ही ईश्वर को भी जा-नने का साधन हमें उपलब्ध है। वह साधन है स्थितप्रज्ञ। जब-तक ऐसे स्थितप्रज्ञ सब जगह—सब समय मिलते हैं तबतक यह कहना अनुचित न होगा कि ईश्वर को जानने का साधन हमारे

पास है। अतः स्थितप्रज्ञ को मूर्तिमान् और एक छोटा-सा ईश्वर ही समझिए न। स्थितप्रज्ञ की तीन भूमिकाएं ईश्वर के तीन स्वरूपों के अनुसार हैं। इन तीन रूपों को मिलाकर उसका परिपूर्ण स्वरूप वनता है। जितना कुछ हमारी कल्पना में आता है और नहीं आ सकता वह सब उसके उदर में समाविष्ट है।

१६१. ईश्वर का पहला रूप केवल शुभ।

ईश्वर का पहला रूप केवल शुभ है। वह मनुष्य की आकांक्षा में दिखाई देता है। मनुष्य सदा शुभ की आकांक्षा रखता है। जो अशुभ करता है वह भी आकांक्षी तो शुभ का ही होता है। असत्यवादी भी नहीं चाहता कि कोई उसे धोखा दे। हिंसक मनुष्य भी नहीं चाहता कि कोई उसे मार डाले। मनुष्य-हृदय की इस शुभ-विषयक आकांक्षा से ही नीतिशास्त्र का जन्म हुआ है। हो सकता है कि इसका निर्णय कि शुभ क्या है, कभी-कभी कठिन मालूम हो। परन्तु शुभ जैसी वस्तु है अवश्य और वही मनुष्य को प्रिय है। दैवी सम्पत्ति-संवंधी सद्गुण वताकर भगवान् ने जो अर्जुन से कहा कि 'तेरा जन्म दैवी सम्पत्ति ही में हुआ है' सो यह आश्वासन महज अर्जुन तक ही सीमित नहीं है, वल्कि सारी मनुष्य जाति तक व्यापक समझना चाहिए। यह सच है कि मनुष्य में दोष भी दिखाई देते हैं। परन्तु वह तो मानव का पशु-पक्ष है, मानवत्व नहीं। मानवत्व शुभ है, शुभाकांक्षी है, शुभ की ओर अग्रसर है। उसका हृदय-स्थान शुभ से वना है। 'हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' जो कहा है सो यही है।

१६२. दूसरा, विश्वरूप।

ईश्वर का दूसरा रूप यह विश्वरूप है। वह परिपूर्ण है। उसमें शुभाशुभ सव कुछ आ जाता है। संतरे के फल में वीज,

था, चूँ छिलका सब कुछ आ जाता है। मीठा, खट्टा, कसैला—तीनों रस आ जाते हैं। यह सब मिलकर सन्तरा बना है। इन सबको मिलाकर हमसे पूछें कि सन्तरा कैसा है तो हम कहेंगे 'बढ़िया, मीठा, मजेदार।' बीज, चूँथा, छिलके से खाने वालों का कोई प्रयोजन नहीं, उनका उसे महत्त्व नहीं। तो भी ये सब फल के रस के लिए पोषक हैं। मनुष्य की दृष्टि से ये सब गौण हो सकते हैं। परन्तु उनसे सन्तरे में बुराई नहीं आती। 'मनुष्य की दृष्टि से' इसलिए कहा कि फल की परिभाषा में बीज ही मुख्य कहा जायगा। परन्तु दृष्टान्त में केवल सार ही ग्रहण करना चाहिए। कुल मिलाकर जगत् शुभ है। सन्तरे की तरह मधुर है। उसमें जो अशुभ भासता है सो शुभ की शोभा बढ़ाने वाला है। वह शुभच्छाया-रूप है। उस सबको मिलाकर यह सारा विश्वरूप सुसज्जित है। कभी उससे भय मालूम होता है तो कभी उसके प्रति आकर्षण। ११वें अध्याय में वर्णन है कि अर्जुन को उससे भय मालूम हुआ। भागवत में कहा है कि प्रह्लाद को उसे देखकर प्रेम व भक्ति उमड़ी। वह समुद्र व हिमालय की तरह रमणीय-भयानक है, आकर्षक है व विकर्षक भी। इसीलिए शिव के त्रिविध स्वरूप का वर्णन किया जाता है—'मंगल व घोर' 'सौम्य और रुद्र' दोनों प्रकार के शिव-रूप है। परन्तु दोनों को मिलाकर वह है तो शिव ही।

१६३. तीसरा शुभाशुभ से परे ब्रह्म-संज्ञित।

ईश्वर का तीसरा रूप शुभाशुभ से परे है। सृष्टि से परे, बुद्धि से परे व आकांक्षाओं से परे। परन्तु वह सब के परे होते हुए भी सब के लिए आधार-रूप है। उसका वर्णन ही नहीं किया जा सकता। वह शुभ भी नहीं, अशुभ भी नहीं, ऐसा नकारसूचक वर्णन ही उसका किया जा सकता है—हँकारसूचक

भाषा में इतना ही कहा जा सकता है कि वह है।' बाकी सब नेति-नेति। वेदान्त में उसे 'ब्रह्म' कहा है।

१६४. गीता की परिभाषा में 'सत्', 'सदसत्' 'नसत्, नासत्'।

गीता में ईश्वर का यह तिहेरा रूप भिन्न-भिन्न स्थानों में बताया गया है। इनमें पहला 'मानवी आकाँक्षाओं का रूप है' जो केवल शुभ है। भक्तों ने इसे चतुर्भुज रूप माना है। यह रूप मानवी आकांक्षाओं के अनुरूप है, अतः वास्तव में मानवी है। परन्तु मानव के प्रत्यक्ष जीवन में वह पूर्णतया प्रकट नहीं होता। अतः उसमें दो हाथ और जोड़कर चतुर्भुज बनाया। परमेश्वर के खालिस, शुद्ध, शुभ, मंगल रूप को अपने हृदय में अनुभव करना चतुर्भुज रूप का दर्शन करना है। गीता में इसे 'सत्' कहा है। 'ओ३म् तत्सत्' में जो सत् है सो यही। उसका चित्र चतुर्भुज, चरित्र नीतियुक्त, नाम सत्। दूसरा है विश्वरूप जो ११वें अध्याय में मिलता है। उसमें शुभाशुभ का समावेश होता है। समग्रता व परिपूर्णता उस स्वरूप की विशेषता है। गीता में इसका शास्त्रीय नाम 'सदसत्' है। 'सदसच्चाहमर्जुन' इस वचन में इसी विश्व-रूप का वर्णन है। तीसरा रूप गुणातीत है। उसमें न आकार है, न विकार, न प्रकार। परन्तु वह सर्वाधार है। गीता ने उसका शास्त्रीय नाम 'नसत् तन् नासद् (उच्यते)' रखा है। १३वें से लेकर १५वें अध्याय तक गीता में उसका विस्तार किया गया है।

१६५. तर्क से सदसत् की चार कोटियाँ हो सकती हैं। इनमें तीन ही ईश्वर पर चरितार्थ।

इस तरह ईश्वर के तीन रूप और उनके अनुसार स्थितप्रज्ञ

की तीन अवस्थाएं होती हैं। तर्क द्वारा विचार करने से सदसत् की कुल चार कोटियाँ सम्भवनीय हैं—(१) केवल सत्, (२) केवल असत्, (३) सदसत, (४) न सत् नासत्। परन्तु तर्क से यद्यपि ४ कोटियाँ होती हैं तो भी इनमें ३ ही ईश्वर पर घटित होने जैसी हैं। केवल 'असत्' कोटि ईश्वर पर चरितार्थ नहीं होती। वह शैतान पर लागू होती है। ईश्वर का चौथा स्वरूप नहीं है। अतः स्थितप्रज्ञ की भी चौथी अवस्था नहीं।

(२)

१६६. ईश्वर के और तदनुसार स्थितप्रज्ञ के जीवन का यह त्रिविध स्वरूप 'ज्ञान-यज्ञेन चाप्यन्ये' श्लोक में सूचित।

इस अर्थ को सूचित करने वाला एक श्लोक नौवें अध्याय में आया है। 'सूचित करने वाला' मैंने जान-बूझकर कहा है; क्योंकि उसका अर्थ सरल नहीं है। महाभारत में व्यासजी के जो खास श्लोक हैं उनमें वह एक है। तो भी भाष्यकारों ने अपने-अपने ढंग से उसका अर्थ खोला है। मेरी दृष्टि से उसमें से वही आशय निकलता है जिसका हम यहाँ विवेचन कर रहे हैं—

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतो मुखम्॥

गी० ९-१५

यह श्लोक है। इसका शाब्दिक अर्थ है-'ज्ञान-यज्ञ के द्वारा जो मेरा भजन करते हैं वे एकत्व से, पृथकत्व से और बहुरूप से मेरे व्यापक स्वरूप का भजन करते हैं।' एकत्व से, पृथकत्व से व बहुधा भजन करने वाले—ये तीन अलग-अलग ज्ञानी नहीं हैं। बल्कि एक ही ज्ञानी तीन भूमिकाओं से तीन प्रकार को

उपासना करता है 'न सत् तन् नासद् उच्यते' ऐसे निर्गुण ब्रह्मतत्त्व का अद्वैतमय अनुभव एकत्व से यजन करना है। 'ईश्वर केवल सत् है, असत् नहीं' ऐसी भूमिका से उपासना पृथकत्व से किया यजन है। और 'सत्-असत् मिलकर सारा जीवन एक है' ऐसी भूमिका से की गई उपासना बहुधा यजन है।

१६७. इसीका और अधिक स्पष्टीकरण।

ये तीनों भूमिकाएं एक ही ज्ञानी पुरुष की होती हैं+क्रियावस्था में वह ईश्वर को केवल सत्-स्वरूप देखता है। उस समय उसकी पृथकत्व की अर्थात् विवेक की भूमिका रहती है। 'पृथकत्व से' का अर्थ बाज लोग करते हैं, ईश्वर में व अपने में भिन्नता मानकर भेद-भूमिका से की गई उपासना। परन्तु वह ठीक नहीं है; क्योंकि यहाँ साधारण भक्ति का वर्णन नहीं है। ज्ञान-यज्ञ का वर्णन है। भक्ति का वर्णन इसके पहले ही 'सततं कीर्तयन्तो माम्' इस श्लोक में हो चुका है। उसमें जितना चाहिए द्वैत मान लेने की भरपूर गुंजाइश है। किन्तु यहाँ द्वैत-भक्ति की कल्पना करने की आवश्यकता नहीं। क्योंकि यह ज्ञान-यज्ञ है। यहाँ पृथकत्व से उपासना का 'सदसद् विवेक' ही अर्थ करना उचित है। बहुधा का अर्थ है शुभ व अशुभ उभय स्वरूप में अनंत रूपों से ईश्वर सुसज्जित है, ऐसी भूमिका की उपासना। यह स्थितप्रज्ञ की भावावस्था की उपासना है। इसमें उसकी सबके प्रति अविरोध-वृत्ति सूचित की गई है। इस श्लोक का ऐसा अर्थ करना गीता में वर्णित ईश्वर के त्रिविध स्वरूप से मेल खाता है।

१६८. बाह्य जीवनाकार में भेद दिखाई देने पर भी सभी स्थितप्रज्ञों को तीनों अवस्थाओं का अनुभव होता है।

सभी स्थितप्रज्ञों के जीवन में ये तीनों भूमिकाएं रहती हैं।

परन्तु उनमें भी किसीके जीवन में क्रियावस्था प्रधान रहती है तो किसीके भावावस्था व किसीके ज्ञानावस्था। और उसके अनुसार उनके बाह्य ज़ीवनाकार में भी फर्क दिखाई देगा। परन्तु किसी भी स्थितप्रज्ञ को इनमें से सिर्फ एक ही भूमिका का नहीं बल्कि तीनों का अनुभव रहता है और तीनों अवस्थाओं में जो सर्व-सामान्य अखण्ड अनुभव होता है वह भी एक ही है। तो भी प्रधानता के कारण बाह्य जीवन में फर्क होता है। इससे लोगों को भिन्न-भिन्न ज्ञानियों में तुलना करने का भी मोह हो जाता है और अपनी-अपनी रुचि के अनुसार कोई किसीको श्रेष्ठ बताता है व कोई किसीको। परन्तु वास्तव में है यह मोह ही। बाहरी आकार कुछ भी हो, तो भी जबतक भीतरी प्रकार एक ही है तबतक वास्तव में कोई फर्क नहीं होता। पाँच रुपये का नोट हो तो क्या और पाँच रुपये के सिक्के हुए तो क्या—कीमत दोनों की बराबर ही है—फर्क सिर्फ आकार का रहा। परन्तु किसी भी भूमिका का प्राधान्य हो तो भी स्थितप्रज्ञ से जो लोकसंग्रह होता है वह समान ही रहेगा। लोक-संग्रह उसके आत्मज्ञान की बदौलत ही होता रहता है। प्रधानता किसी भी अवस्था की हो तो भी उस आत्मज्ञान में कोई अन्तर नहीं होता।

(३)

१६९. ये अवस्थाएं परस्पर-सम्बद्ध, परस्पर उपकारक ही हैं।

यहां एक प्रश्न और खड़ा होता है। स्थितप्रज्ञ की इन तीनों अवस्थाओं का कहीं योग भी है या नहीं? जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति—मनुष्य की ये तीन अवस्थाएं जैसी एक-दूसरी से बिल्कुल अलग हैं, वैसी ही क्या ये अवस्थाएं बिल्कुल भिन्न-भिन्न हैं? मनुष्य जब नींद लेता है तो जागृति नहीं रहती व जागृति में

नींद नहीं होती और स्वप्न में दोनों का पता नहीं रहता। वैसी ही स्थिति क्या स्थितप्रज्ञ की क्रियावस्था, भावावस्था व ज्ञानावस्था की है, या इनमें कोई परस्पर-सम्बन्ध भी है ? इसका उत्तर यह कि जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति का उदाहरण यहां लागू नहीं होता। क्योंकि जागृति इत्यादि तो सामान्य मनुष्य की तरह ज्ञानी को भी होती ही है। परन्तु जिन तीन अवस्थाओं की हम चर्चा कर रहे हैं वे तो ज्ञानी पुरुष की जागृति-काल की हैं। सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो निद्रादि अवस्थाएं भी बिल्कुल असम्बद्ध नहीं हैं। नींद का परिणाम जागृति पर और जागृति का नींद पर काफी होता है। यदि नींद अच्छी आई हो तो जागृति भी अच्छी रहेगी। और जागृति में यदि डटकर काम किया हो तो नींद भी अच्छी आती है। इसी तरह स्वप्न का भी जागृति पर और जागृति का स्वप्न पर परिणाम हुए बिना नहीं रहता। और ज्ञानी पुरुष को तो जागृति-काल की ही ये तीन अवस्थाएं हैं। अतः इन तीनों का प्रभाव एक-दूसरी पर पड़ना ही चाहिए। यह असम्भव है कि एक अवस्था में रहते हुए वह दूसरी अवस्थाओं की भूमिका से बिल्कुल अछूता बना रहे।

१७०. इस विषय में सनातनियों की तर्क-प्रणाली भ्रमपूर्ण।

यह चर्चा यहां इसलिए छेड़ी कि "ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता, चाण्डाल—ये सब पण्डित की दृष्टि में एक-से होते हैं।" इस गीता-वचन पर कुछ वेदान्ती कहते हैं कि यह वाक्य भावावस्था का है। यह क्रियावस्था पर लागू नहीं पड़ता। भावावस्था में सबको एक-सा मानने पर भी क्रियावस्था में विवेक रखना ही पड़ता है। इस स्थूल विवेक के आश्रय से

गाय के साथ गाय की तरह और मनुष्य के साथ मनुष्य की तरह व्यवहार करना पड़ता है। स्थितप्रज्ञ पागल तो है नहीं। भावावस्था के अद्वैत के आधार पर क्रियावस्था का भेद न मानना मानो वड़ की छाल पीपल पर चिपकाने जैसा है" इस तर्कप्रणाली का आधार लेकर सनातनी कहते हैं—"आप जो यह समझते हैं कि हम ब्राह्मण व हरिजन में भेद-भाव करते हैं सो बात नहीं। वह भेद नहीं, विवेक है। अभेद का विरोध भेद से हो सकता है, विवेक से नहीं हो सकता।" उनका यह कथन विचारणीय है। यह कहना तो युक्तियुक्त है कि एक विशेष भूमिका में एक विशेष अवस्था रहेगी। परन्तु इसमें जो यह मान कर चला गया है कि इन अवस्थाओं में परस्पर सम्बन्ध नहीं है, सो ठीक नहीं है। भावना का प्रभाव क्रिया पर, क्रिया का भावना पर और ज्ञान का दोनों पर अवश्य होता है। ज्ञान व भाव अकिंचित्कर—न कुछ—नहीं हैं। वे ऐसे नहीं कि दियासलाई की डिबिया की तरह जब चाहा जेब में रख लिया व जब चाहा सुलगा ली। वे जीवन में घुले-मिले होते हैं।

१७१. क्रियावस्था पर भावावस्था का प्रभाव : दृष्टान्त, सोने की अंगूठी व सभा के अध्यक्ष।

उदाहरण के लिए पहले हम क्रियावस्था व भावावस्था की तुलना करेंगे। विचार करने पर ऐसा दिखाई देगा कि क्रियावस्था पर भी, उस भूमिका के विवेक की रक्षा करते हुए, भावावस्था का प्रभाव पड़ना ही चाहिए। मुझे सोना अंगुलियों में पहनना है तो चाहे जिस आकार का सोना नहीं चलेगा। वह अंगूठी के आकार का ही होना चाहिए। वैसे आकार का न होगा तो उससे मेरा काम नहीं चलेगा। अतः मैं उसे न

लूँगा। परन्तु उसका आकार भिन्न है, इसलिए मैं उसे फेंक भी नहीं दूँगा। क्योंकि मैं सोने की कीमत जानता हूँ। भावावस्था में मुझे यह दर्शन हुआ है। यह सारा शुभ-अशुभ जगत् ब्रह्म-स्वरूप है, खालिस सोना है। अब फर्ज कीजिए कि सज्जनों की एक सभा के लिए सभापति की जरूरत है, तो उस समय स्थितप्रज्ञ किसी साधु-पुरुष को ही उस पद के लिये चुनेगा। दुर्जन को तो नहीं पसन्द कर लेगा। परन्तु ऐसा करते हुए वह दुर्जन के प्रति तिरस्कार-भाव नहीं रखेगा। दुर्जन भी तो एक आकार में परमेश्वर ही है। सज्जन दूसरे आकार में परमेश्वर है। सज्जनों की सभा के लिए सज्जनों के आकार वाला ही परमेश्वर उचित है, इसलिए उसे चुना—बस क्रिया-वस्था में ज्ञानी पुरुष इस तरह वर्तता है। इसका अर्थ यह नहीं कि वह भेद-भाव रखता है। भीतरी एकता को पहचानकर वह बाहरी व्यवहार में विवेक से काम लेता है। बाह्य व्यवहार के आकार में फर्क करते हुए वह इतनी चिन्ता रखता है कि भीतरी अभेद-भाव सुरक्षित रहे। वह समदृष्टि से देखता है, इसका अर्थ यह नहीं कि वह प्लेग और क्षय दोनों में एक ही दवा देगा। क्रियावस्था में उसे आकार देखकर चलना पड़ता है। परन्तु भावावस्था का अनुभव उसे बताता है कि विवेक से काम लेते हुए भी यह भूलना नहीं है कि यह सब कुछ ब्रह्मरूप है। किसी भी वस्तु का अनादर मत करो। सबके प्रति आदर-भाव रखो।

१७२. भावावस्था पर क्रियावस्था का प्रभाव : दृष्टान्त, महारोगी-सेवा।

एक अवस्था का अनुभव व ज्ञान दूसरी अवस्था में भूल नहीं सकता। व्यवहार में भी हम ऐसा ही देखते हैं। मनुष्य

बिल्कुल ऐकान्तिक भूमिका लेकर नहीं रह सकता। एक विनोद-शील मित्र एक मजेदार बात सुनाया करते हैं। गणित के एक प्रोफेसर घूमने निकले। रास्ते में एक शख्स ने पूछा—स्टेशन कहाँ है? प्रोफेसर महाशय ने उत्तर दिया—भूगोल मेरा विषय नहीं है। प्रोफेसर साहब का खयाल था कि गणित के प्रोफेसर से भूगोल के ज्ञान का क्या वास्ता? यह सच है कि भावावस्था की सब भावनाएं क्रियावस्था पर लागू नहीं होतीं, तो भी क्रियावस्था में भावावस्था के तत्त्व की विस्मृति नहीं हो सकती। बल्कि जिसमें भावावस्था की भूमिका प्रधान होगी वह भी क्रियावस्था के विवेक की उपेक्षा नहीं करेगा। यह नमक है, यह शक्कर है, यह लाल या पीला रंग है, या यह वस्तु चौकोर, गोल, आदि है—इन बातों का ज्ञान उसे रहता ही है। कल को यदि यह सिद्ध हो जाय कि किसी बाह्य कारण से, व्यक्तिगत अथवा सामाजिक स्वास्थ्य के लिए किसी व्यक्ति को जैसे किसी महा(कुष्ट) रोगी को न छूना मुनासिब है तो वह भी अपनी क्रियावस्था में ऐसा करेगा। वह खुद इस महारोगी की सेवा करेगा। खुद अपने को खतरे में डाल देगा, परन्तु इस बात का एहतियात जरूर रखेगा कि खुद उसे यह बीमारी न लग जाय। उसका आशय यह नहीं है कि वह बीमारी खुद उसे लग जाय, बल्कि यह है कि महारोगी का रोग दूर हो। इतना खतरा उसने मोल ले लिया कि बीमारी लगना हो हो तो मुझे लगे। पर दूसरों को न लग जाय, इसलिए वह रोगी को समाज से दूर रखेगा और जरूरत पड़ने पर खुद भी दूर रहेगा। परन्तु इस नियम में रोगी के प्रति आस्था, अनुकम्पा व आदर-भाव रहेगा। वह इस भाव को नहीं भूलेगा कि महारोगी भी ईश्वर-रूप है। परन्तु समाज के बचाव के लिए वह सावधानी रखेगा, यह उसका विवेक हुआ। परन्तु यदि वह महारोगियों को अपवित्र समझकर

उन्हें दूर रखने लगे, उनकी सेवा की उपेक्षा करने लगे, उनका तिरस्कार करने लगे तो उसकी ईश्वर को सर्वत्र देखने की भावना बिल्कुल खतम हो जायगी। फिर उसकी स्थितप्रज्ञावस्था का मतलब ही क्या रहा? 'सब कुछ एक ही है' यह भावावस्था है, क्रियावस्था नहीं—सनातनी लोगों का यह कहना सत्य है। परन्तु उनका यह खयाल गलत है कि ये अवस्थाएं एक-दूसरे से अत्यन्त भिन्न हैं। वे एक ही निष्ठा के विभिन्न प्रकार हैं। इस तरह विचार करने पर सनातनियों के कथन का सार भी दिखाई दे जायगा और असार भी मालूम हो जायगा।

सत्रहवाँ व्याख्यान

(१)

१७३. भाव द्वारा क्रिया का नियमन होता है—अधिक विवरण।

स्थितप्रज्ञ की तिहेरी अवस्था का विवरण हम कर रहे हैं। ज्ञान, भाव व क्रिया—ये तीन अवस्थाएं भले ही आक्रमणकारी न हों तो भी अनुग्रहकारी जरूर हैं। अर्थात् यद्यपि वे एक-दूसरे के सिर पर नहीं चढ़ बैठतीं तो भी परस्पर प्रभाव डाले विना नहीं रहतीं। इन्द्र-धनुष के भिन्न-भिन्न रंग यद्यपि सब अपने-अपने तौर पर जुदा दीखते हैं तो भी उनकी छटा एक-दूसरे पर झलकती है और उन सबका मिलकर इन्द्र-धनुप होता है। उसी तरह ये तीन अवस्थाएं मिलकर ज्ञानी पुरुष का जीवन बनता है। उदाहरण के लिए भाव बनाम क्रिया जैसी स्थिति हो तो क्या होगा, इसका हमने विचार किया। क्रियावस्था पर यदि भावावस्था का अनुग्रह न रहा तो विवेक के भेद में परिणत होने की संभावना है। जैसे सनातनियों की हरिजनों के खिलाफ दलील (तर्क-प्रणाली)। वस्तुतः यह दलील फजूल है। क्योंकि उसमें विवेक के नाम से जो बताया गया है वह विवेक नहीं, महज भेद ही है। मनुष्य किसी भी मनुष्य-जन्म पाये हुए को जन्मतः अस्पृश्य माने तो इसमें विवेक कहाँ का? वह

तो परंपरागत मूढ़-भेद ही साबित होता है। विवेक व भेद ये दोनों बिल्कुल भिन्न-भिन्न भूमिका रखते हैं। खाद्य व अखाद्य के विचार को विवेक कह सकते हैं। विवेक के उदाहरण के तौर पर हमने महारोगी की मिसाल ली थी। महारोगी को हम दूर तो रखेंगे; परन्तु उसमें उनके प्रति सहानुभूति, सेवाभाव और समादर रहना चाहिए। अलग रखना यदि प्रेमभाव-प्रेरित होगा तो वह विवेक होगा, नहीं तो वह भेद ही है। दूसरा उदाहरण न्यायाधीश का ले सकते हैं। न्याय करते हुए न्यायान्याय-विवेक तो करना ही चाहिए। नहीं तो न्याय का कोई मतलब ही नहीं रह जाता। परन्तु उस क्रिया पर सर्वात्मभाव की मुहर लगनी चाहिए। यहाँ यदि सीधी-सादी भाषा में कहें तो न्याय में दया मिली रहनी चाहिए। तभी वह समुचित न्याय होगा। आत्मौपम्य-बुद्धि के बिना न्याय बदले का रूप धारण कर लेगा।

१७४. वही बात ज्ञान के द्वारा भी। उसीसे निष्काम कर्मयोग का जन्म होता है।

जिस प्रकार भाव द्वारा क्रिया का नियमन होना चाहिए उसी तरह ज्ञान द्वारा भी क्रिया का नियमन होना चाहिए। ज्ञानावस्था की भूमिका इस प्रकार है— मैं शुभ व अशुभ से परे हूँ। शुभ व अशुभ मेरी दृष्टि से दोनों त्याज्य ही हैं और क्रिया में तो शुभाशुभ-विवेक आवश्यक है। इस तरह ये दोनों भूमिकाएं परस्पर-विरोधी भासती हैं। परन्तु ऐसी भासने पर भी वे वस्तुतः परस्पर-अनुग्राहक हैं। ज्ञानावस्था व क्रियावस्था भिन्न-भिन्न हों तो भी ज्ञानी पुरुष की क्रिया पर उसके ज्ञान की प्रभा छिटकती है। उसके ज्ञान का रंग उसकी क्रिया पर चढ़ता है। उसकी क्रिया उसके ज्ञान से प्रकाशित व मण्डित होती है। क्रिया में शुभाशुभ बिवेक होता हो तो भी शुभ व अशुभ

दोनों मिथ्या हैं, यह ज्ञान उसे अवश्य रहता है। इससे क्रियावस्था में भी वह अलिप्त व निरहंकार रहता है। सिर्फ ज्ञानावस्था में ही सर्वकर्म संन्यास की भूमिका रहती है। क्रियावस्था में वह शुभाशुभ विवेक से काम लेता है तो भी ज्ञानावस्था के ज्ञान के कारण अहंकार या लिप्तता नहीं आने पाती। उसीमें से निष्काम कर्मयोग का जन्म होता है।

१७५. 'मुक्त को चिन्तते खुद ही मुक्त होते' अतः स्थितप्रज्ञ की अवस्था का ज्ञान साधक व समाज के लिए आवश्यक।

इस तरह ये तीनों अवस्थाएं परस्पर संसृष्ट, परस्पर संमिश्र हैं। ये तीनों मिलकर स्थितप्रज्ञ का एक ही परिपूर्ण व भव्य जीवन बनता है। परन्तु स्थितप्रज्ञ के जीवन का यह भव्य लक्षण जानने से हमें क्या लाभ? यह प्रश्न मन में उठ सकता है। इसका उत्तर ज्ञानदेव देते हैं—'मुक्त को चिन्तते खुद ही मुक्त होते।' मुक्त पुरुष के जीवन का चिन्तन करने से हमें अपनी मुक्ति के दर्शन होते हैं। मुक्ति अकेले स्थितप्रज्ञ की बपौती नहीं है, वह तो सभी की निज-वस्तु है। मुक्त पुरुष के चिन्तन से हमारी खोई हुई वस्तु खोज निकालने की दिशा हाथ लगती है। अतः उनका जीवनादर्श और जीवन-स्पर्श साधक व समाज के लिए उपयोगी है। उसकी ये अवस्थाएं यद्यपि उसके लिए स्वाभाविक हैं तो भी हमें वे प्रयत्न से ही साध्य होंगी और इसलिए अनुकरणीय हैं। हमें उस दिशा में जाना है। अपना जीवन तदभिमुख बनाना है। उसकी आदत डालनी है। सारे समाज के ऐहिक जीवन की सार्थकता भी उस जीवन के मोक्ष-प्रवण होने में है। स्थितप्रज्ञ के उदाहरण से यह मालूम होता है कि हमारा जीवन छुटकारे का साधन हो सकता

है। स्थितप्रज्ञ में हमें परिपूर्ण व निर्दोष आदर्श का दर्शन होगा। और लोगों के प्रयत्न में दोष रहेंगे—कमियां रहेंगी। तो भी आत्मा का स्वरूप सर्वत्र समान ही होने के कारण स्थितप्रज्ञ के जीवन की अवस्थाओं का ज्ञान साधक व समाज के लिए आवश्यक है।

(२)

१७६. स्थितप्रज्ञ की त्रिसूत्री 'ॐ तत् सत्' के द्वारा सूचित।

इस जगह त्रिसूत्री में वर्णित विषय भगवद्गीता में १७ वें अध्याय के अन्त में 'ॐ तत् सत्' मंत्र के द्वारा बताया गया है। मंत्र यद्यपि शब्दात्मक है तो भी उसका सामर्थ्य विलक्षण होता है। वह वस्तु-शून्य नहीं होता। मंत्र तोप के गोले से भी बलवान होता है। मंत्र जीवन को मोड़ता है। मंत्र के प्रभाव व प्रेरणा से मनुष्य का जीवन तदनुरूप अपने आप बनता है। स्थितप्रज्ञ के जीवन-पथ पर सब लोग चल सकें इसलिए गीता ने दयालु होकर यह चिन्तामणिरूप मंत्र हमें दिया है। वह वेद और उपनिषदों का सार रूप समझा जाता है।

१७७. पहला पद ॐ। ॐ शब्द भावावस्था की लब्धि के लिए भावनीय।

उनमें ॐ पहला पद है। ॐ माने ईश्वर-तत्व। विराट, व्यापक, विशाल। सबका समावेश करने वाला ब्रह्म का सगुण स्वरूप। ॐ अक्षर है और शब्द भी है। शब्द के रूप में ओ३म् का अर्थ 'हां' है। ॐ ईश्वर का 'हां' रूप है। "तुका बोले-जो-जो कहें सो-सो विट्ठल को सोहे" इस तरह तुकाराम ने ईश्वर का हँकारात्मक वर्णन किया है। वह साकार है? 'हां'। निराकार है?—'हां'। शुभ है?—'हां'। अशुभ है? —'हां'। सगुण है?—'हां'। निर्गुण है?—'हां'। अणु है?

महान् है ? इत्यादि सब प्रश्नों का उत्तर है—'हां'। "इदं-मयः अदोमयः" वह यह भी है और वह भी है। जो कुछ कल्पना में समाता है और नहीं भी समाता है उस सबको अपने उदर में समा लेने वाला जो व्यापक, विशाल, भव्य रूप है उसका वाचक ॐ शब्द है। अतः भावावस्था की उपलब्धि के लिए ॐ शब्द भावनीय है।

१७८. ॐ अक्षर वर्ण-मात्र का प्रतीक।

अक्षर के रूप में ॐ वर्ण-मात्र का प्रतीक माना जाता है। उसकी शुरुआत 'अ' से है और अन्त 'म' में है। इन दोनों को जोड़ने वाला साधा है 'उ'। वर्णमाला का आरम्भ 'अ' से होकर 'म' में उसकी समाप्ति होती है। वर्ण का उगम कण्ठ से होता है और समाप्ति ओठ पर। 'अ' वर्ण का आदि, कण्ठ से उच्चरित; और 'म' ओष्ठ स्थान से उच्चरित अन्तिम वर्ण है। 'म' का उच्चारण करते हुए हम दोनों ओंठ मिला लेते हैं और नाक से भी कुछ काम लेते हैं। अतः 'म' के बाद कोई वर्ण नहीं है। हम 'म' के बाद य, र, ल, व, की गिनती करते हैं। परन्तु वे आन्तर स्थान से उत्पन्न होने वाले वर्ण हैं। कण्ठ और ओष्ठ के दरम्यान उनका स्थान है। कण्ठ और ओष्ठ के बीच के स्थान से उत्पन्न होने वाले वर्णों का प्रतिनिधि 'उ' मौजूद है। 'उ' का अर्थ है उभय, इधर व उधर की संधि मिलाने वाला। सारांश, सर्व सारस्वत, सर्व साहित्य, सर्व शुभाशुभ वाङ्मय, ॐ में आ गये। यह उपपत्ति है तो काल्पनिक; परन्तु इस तरह सारी वाणी का एक प्रतीक कल्पित करने में व्यापक, विश्वरूप, ईश्वर-तत्व के चिह्न के तौर पर वह चिन्तन में उपयोगी होता है।

१७९. ॐ की व्युत्पत्ति : ॐ एक धातु रूप।

तुलनात्मक व्युत्पत्ति का विचार करते हुए मेरा खयाल है

कि ॐ एक धातु रूप है। 'सर्वत्र व्याप्त हो के रहना' उसका धातु अर्थ है। जो स्वरूप भूतमात्र में पिरोया हुआ है, वह ॐ है। 'उमा' शब्द में भी यही धातु है और उसका अर्थ है विश्व-व्यापिनी देवी। इसी धातु में "वि" उपसर्ग जोड़कर परम व्यापक आकाश का सूचक "व्योमन्" शब्द बना है। लैटिन का आमनि 'अर्थात् सर्व या विश्व' इस ओम् की ही विकृति है। 'आम्निप्रेजेंट' इत्यादि अंग्रेजी शब्दों में लैटिन की यही विकृति पाई जाती है। इस तरह सारा विचार करते हुए स्थितप्रज्ञ की सकल विश्व को आलिंगन करने वाली भावावस्था को सूचित करने के लिए 'ॐ' रूपी मन्त्रावयव बिल्कुल उपयुक्त प्रतीत होता है।

१८०. दूसरा पद तत् ज्ञानावस्था की प्राप्ति के लिए चिन्तनीय।

दूसरे पद 'तत्' का अर्थ है वह। जो न सत् है न असत्—वह। वह यानी जो यह नहीं है, जो पास का नहीं है अर्थात् जो कल्पना से परे है। 'तत्' के चिन्तन से ज्ञानी पुरुष की ज्ञानावस्था सिद्ध होती है। 'तत् त्वं असि' तू वह है, इस वाक्य में वह अवस्था दर्शाई गई है। यह दृश्य रद्दी का टोकरा, यह त्रिगुणात्मक जगत्, तू नहीं है, तू इसके परे है, तुझे किसीका भी स्पर्श नहीं, यह बोध 'तत् त्वं असि' इस वाक्य के द्वारा कराया गया है। वही यह 'तत्' है।

१८१. तीसरा पद 'सत्' क्रियावस्था की सिद्धि के लिए सेवनीय।

तीसरा पद है 'सत्'। यह [illegible] है। अशुभ को छो[illegible]कर जो शुभ को ग्रहण करता [illegible]। 'सत्य का आ[illegible]

असत्य का त्याग' इस भूमिका को 'सत्' सूचित करता है। सत् अर्थात् 'शुद्ध' ब्रह्म।

१८२. कुल मिलाकर 'ॐ तत् सत्' यह मंत्र व्यापक, अलिप्त और परिशुद्ध जीवन का वाचक है। वही किसी भी पूर्ण विचार का स्वरूप है।

इस तरह 'ॐ' से व्यापक ब्रह्म, 'तत्' से निर्गुण ब्रह्म और 'सत्' से शुद्ध ब्रह्म का बोध होता है। ये तीन पद ज्ञानी पुरुष की तिहेरी अवस्था के द्योतक हैं। ये तीनों अवस्थाएं बिल्कुल अलग-अलग नहीं हैं। हमने यह तो पहले देखा ही है कि ये तीनों अवस्थाएं मिलकर ज्ञानी पुरुष का एक ही जीवन बनता है। क्रियावस्था में 'सत्' प्रधान होता है। स्थूल जीवन का मुख्य भाग क्रिया ही है। मनुष्य का व्यक्त, प्रकट जीवन क्रियात्मक ही होता है। महापुरुषों के जो जीवन-चरित्र लिखे जाते हैं उनमें उनके द्वारा किये गये कार्यों का ही मुख्यतः वर्णन होता है। क्योंकि जीवन का मुख्य दृश्य-भाग क्रिया ही है। उसके अनुसार 'सत्' को मुख्य शब्द समझना चाहिए। अर्थात् व्याकरण की भाषा में वह संज्ञा होगा। 'ॐ' व 'तत्' इन दोनों का उसको विशेषण समझना चाहिए। क्रियावस्था को मुख्य मानकर उसे मंडित करने के लिए शेष दोनों अवस्थाओं के विशेषण जोड़ लें। उभय-विशेषण-विशिष्ट 'सत्' शब्द, अर्थात् 'ॐ तत् सत्' मंत्र, (ॐ अर्थात्) व्यापक, (तत् अर्थात्) अलिप्त, (सत् अर्थात्) परिशुद्ध जीवन का द्योतक होगा। इस तरह व्यापक, अलिप्त और परिशुद्ध अथवा सत्यमय यह सब मिलकर पूर्ण जीवन का स्वरूप बनता है और यही किसी भी पूर्ण विचार अथवा पूर्ण प्रयोग का स्वरूप होगा।

१८३. उदाहरणार्थ—सत्याग्रह ।

उदाहरण के लिए हम सत्याग्रह का स्वरूप लें। सत्याग्रह में सत् का आग्रह और असत् का विरोध तो स्पष्ट ही है। लेकिन सत्य को अपनाकर असत्य का प्रतिकार करते समय, विश्वात्म भाव को न भूलना चाहिए। सामने वाला अर्थात् प्रति-पक्षी भी मेरा ही रूप है, यह व्यापक ज्ञान सतत बना रहना चाहिए। अपने हाथ में लगे काँटे को जिस तरह सँभल कर व हल्के हाथ से मैं निकालता हूँ उसी चिन्ता व फिक्र से दूसरे के जीवन के दोष निकालने का प्रयत्न करूँगा। यह ध्यान रख कि यह कार्य ऊपर से उसे सुधारने का भले ही दिखाई दे परन्तु वस्तुतः तो यह तेरा अपना ही सुधार-कार्य है। न क्रोध कर, न चिढ़; क्योंकि जहाँ तुझे अशुभ दिखाई देता है वहाँ शुभ भी है। उसे देख। उस शुभ के द्वारा उसके हृदय में प्रवेश कर, तब तू अशुभ का भी सफलतापूर्वक प्रतिकार कर सकेगा। ॐ पद के द्वारा यही सुझाया है। ॐकार कहता है—जिसका तू प्रतिकार करना चाहता है, जिसे तू अशुभ समझता है वह भी ईश्वर का ही स्वरूप है, इस भावना की छाप तेरे प्रतिकार पर पड़ने दे। यही सत्याग्रह की बुनियाद है। यह सब करने के बाद यह मेरी विजय हुई, यह सब मैंने किया है, ऐसा भास न होने दे। यह ध्यान रख कि वस्तुतः यह सब खेल है, मृगजल है। इस सबसे तेरा और उसका वास्तविक रूप अलग है। खेल में फँसकर अपना भान मत भूल। खेल खेल ही रहना चाहिए। निरन्तर यह भेद याद रहना चाहिए कि हम इससे अलग हैं। यह अलिप्तता का तत्त्व 'तत्' पद से सूचित किया गया है।

१८४. यही बात सारे जीवन पर लागू होती है।

सत्याग्रह का दृष्टान्त तो उदाहरण के लिए था। सच पूछिए

तो मनुष्य जीवन के प्रत्येक आचार के लिए यही सूत्र है। पुत्र पिता से, पिता पुत्र से, शिष्य गुरु से, गुरु शिष्य से तथा ऐसे ही दूसरे संबन्धों में परस्पर कैसा व्यवहार करें, इसका सूत्र इस मंत्र में दिया गया है। इस मंत्र के तीनों शब्दों को मिलाकर जो भाव बनता है वह उसके प्रत्येक शब्द में गृहीत समझना चाहिए। अगर शुभाशुभ केवल ध्यानावस्था का तत्व ही उसमें से अलग निकाल लें तो जीवन संग्रह करने वाला व्यवहार के लिए आवश्यक विवेक ही खतम हो जायगा और अगर शुभाशुभ के परे की अकेली ज्ञान की ही भूमिका ग्रहण करें तो सारे कर्म ही लुप्त हो जाँयगे। अगर सिर्फ शुभाशुभ-विवेकयुक्त क्रियावस्था को अपनावें तो विवेक के नाम पर जीवन में असंख्य-भेद उत्पन्न हो जायंगे। जीवन खण्डित और भेद-संकुल बन जायगा। इस-लिए तीनों स्वरूपों का एकसाथ विचार करके जब क्रिया की नीति और स्वरूप का निश्चय करेंगे तभी वह निर्दोष होगी। ये तीनों बातें ध्यान में रखकर ही यहाँ स्थित-प्रज्ञ के लक्षण बताये गये हैं।

(३)

१८५. उपसंहार–अर्जुन के प्रश्न का आकार और उसके अनुसार स्थितप्रज्ञ-लक्षणों का प्रवाह।

यहाँ पर स्थितप्रज्ञ के लक्षण समाप्त होते हैं। लेकिन हम एक बार फिर अर्जुन के मुख्य प्रश्न का आकार ध्यान से देखें तो स्थितप्रज्ञ के लक्षणों का प्रवाह हमारी समझ में आ जायगा। अर्जुन का पहला प्रश्न है—स्थितप्रज्ञ की भाषा बताइए। भाषा का अर्थ है व्याख्या। सो एक ही श्लोक में भगवान् ने विधायक व निषेधक दोनों प्रकार को मिलाकर एक परिपूर्ण व्याख्या दे दी। यों उसके प्रश्न का उत्तर दिया तो—लेकिन अर्जुन केवल

१८३. उदाहरणार्थ—सत्याग्रह ।

उदाहरण के लिए हम सत्याग्रह का स्वरूप लें। सत्याग्रह में सत् का आग्रह और असत् का विरोध तो स्पष्ट ही है। लेकिन सत्य को अपनाकर असत्य का प्रतिकार करते समय, विश्वात्म भाव को न भूलना चाहिए। सामने वाला अर्थात् प्रतिपक्षी भी मेरा ही रूप है, यह व्यापक ज्ञान सतत बना रहना चाहिए। अपने हाथ में लगे काँटे को जिस तरह सँभल कर व हल्के हाथ से मैं निकालता हूँ उसी चिन्ता व फिक्र से दूसरे के जीवन के दोष निकालने का प्रयत्न करूँगा। यह ध्यान रख कि यह कार्य ऊपर से उसे सुधारने का भले ही दिखाई दे परन्तु वस्तुत: तो यह तेरा अपना ही सुधार-कार्य है। न क्रोध कर, न चिढ़; क्योंकि जहाँ तुझे अशुभ दिखाई देता है वहाँ शुभ भी है। उसे देख। उस शुभ के द्वारा उसके हृदय में प्रवेश कर, तब तू अशुभ का भी सफलतापूर्वक प्रतिकार कर सकेगा। ॐ पद के द्वारा यही सुझाया है। ॐकार कहता है—जिसका तू प्रतिकार करना चाहता है, जिसे तू अशुभ समझता है वह भी ईश्वर का ही स्वरूप है, इस भावना की छाप तेरे प्रतिकार पर पड़ने दे। यही सत्याग्रह की बुनियाद है। यह सब करने के बाद यह मेरी विजय हुई, यह सब मैंने किया है, ऐसा भास न होने दे। यह ध्यान रख कि वस्तुत: यह सब खेल है, मृगजल है। इस सबसे तेरा और उसका वास्तविक रूप अलग है। खेल में फँसकर अपना भान मत भूल। खेल खेल ही रहना चाहिए। निरन्तर यह भेद याद रहना चाहिए कि हम इससे अलग हैं। यह अलिप्तता का तत्त्व 'तत्' पद से सूचित किया गया है।

१८४. यही बात सारे जीवन पर लागू होती है।

सत्याग्रह का दृष्टान्त तो उदाहरण के लिए था। सच पूछिए

तो मनुष्य जीवन के प्रत्येक आचार के लिए यही सूत्र है। पुत्र पिता से, पिता पुत्र से, शिष्य गुरु से, गुरु शिष्य से तथा ऐसे ही दूसरे संबन्धों में परस्पर कैसा व्यवहार करें, इसका सूत्र इस मंत्र में दिया गया है। इस मंत्र के तीनों शब्दों को मिलाकर जो भाव बनता है वह उसके प्रत्येक शब्द में गृहीत समझना चाहिए। अगर शुभाशुभ केवल ध्यानावस्था का तत्व ही उसमें से अलग निकाल लें तो जीवन संग्रह करने वाला व्यवहार के लिए आवश्यक विवेक ही खतम हो जायगा और अगर शुभाशुभ के परे की अकेली ज्ञान की ही भूमिका ग्रहण करें तो सारे कर्म ही लुप्त हो जाँयगे। अगर सिर्फ शुभाशुभ-विवेकयुक्त क्रियावस्था को अपनावें तो विवेक के नाम पर जीवन में असंख्य-भेद उत्पन्न हो जायंगे। जीवन खण्डित और भेद-संकुल वन जायगा। इस-लिए तीनों स्वरूपों का एकसाथ विचार करके जब क्रिया की नीति और स्वरूप का निश्चय करेंगे तभी वह निर्दोष होगी। ये तीनों बातें ध्यान में रखकर ही यहाँ स्थित-प्रज्ञ के लक्षण बताये गये हैं।

(३)

१८५. उपसंहार–अर्जुन के प्रश्न का आकार और उसके अनुसार स्थितप्रज्ञ-लक्षणों का प्रवाह।

यहाँ पर स्थितप्रज्ञ के लक्षण समाप्त होते हैं। लेकिन हम एक वार फिर अर्जुन के मुख्य प्रश्न का आकार ध्यान से देखें तो स्थितप्रज्ञ के लक्षणों का प्रवाह हमारी समझ में आ जायगा। अर्जुन का पहला प्रश्न है—स्थितप्रज्ञ की भाषा बताइए। भाषा का अर्थ है व्याख्या। सो एक ही श्लोक में भगवान् ने विधायक व निषेधक दोनों प्रकार को मिलाकर एक परिपूर्ण व्याख्या दे दी। यों उसके प्रश्न का उत्तर दिया तो—लेकिन अर्जुन केवल

व्याख्या पूछकर ही नहीं रुका। उसने यह भी पूछा कि स्थितप्रज्ञ कैसे रहता है और कैसे चलता-फिरता है। इसका उत्तर उन्होंने ऐसा नहीं दिया कि वह इस तरह बोलता है, मधुर या कठोर बोलता है, वह इस तरह रहता है—गरीबी से या मध्यम अवस्था में रहता है, वह इस तरह चलता है—द्रुत अथवा मंद गति से चलता है, आदि। तीनों प्रश्नों का अर्थ सारे जीवन को लेकर किया है। बोलना, चलना और रहना इसका अर्थ हम समग्र जीवन ही लेते हैं और यही अर्थ ग्रहण करके यहाँ उत्तर दिया गया है। फिर इस उत्तर में तीनों प्रश्नों के अक्षरार्थ के संकेत भी अस्पष्ट रूप से मिलते हैं। 'कैसे बोलता है ?' इस प्रश्न के द्वारा स्थितप्रज्ञ की व्याख्या का स्थूल विवेचन अथवा उसका प्रत्यक्ष आचरण जानने की इच्छा की गई है, यह मानकर तीन श्लोकों में उसका उत्तर दिया है। उसके प्रश्न का बिल्कुल अस्पष्ट संकेत "नाभिनन्दति न द्वेष्टि" अर्थात् वह न किसीका अभिनन्दन करता और न किसीको बुरा ही बताता है, इन शब्दों में सूक्ष्मदर्शी टीकाकारों ने खोज निकाला है। 'कैसे रहता है ?' इन शब्दों में उसने यह अवस्था कैसे प्राप्त कर ली है, किस साधना से की है,यह जिज्ञासा मानकर उसका वर्णन उपपत्तिसहित दस श्लोकों में किया है। 'किमासीत' ? इस प्रश्न का संकेत "आसीतमत्परः" में झलकता है। अन्त में 'किंव्रजेत' ? अर्थात् फिरता कैसे है, इस प्रश्न के उत्तर में स्थितप्रज्ञ का विहार-वर्णन करने वाली त्रिसूत्री कही गई है। "पुमांश्चरति निःस्पृहः" इसमें 'चरति' शब्द में उस प्रश्न का संकेत समझ लें। कुल मिलाकर अर्जुन का प्रश्न इस तरह बनता है—(१) समाधि में स्थिर हुआ जो आपका स्थितप्रज्ञ है उसके विधायक और निषेधक दोनों रूपों को लेकर परिपूर्ण व्याख्या क्या होगी ? (२) स्थितप्रज्ञ का प्रकट, प्रत्यक्ष, सब के लिए सुबोध अनुकरण-सुलभ लक्षण क्या होगा ? (३) किस

साधन और किस उपपत्ति से उसने वे लक्षण अपने में उतारे होंगे ? (४) स्थितप्रज्ञ के इस लोक की जीवन-यात्रा अथवा जीवन-लीला के स्वरूप की भूमिका कैसी होगी ? यदि अर्जुन के इस प्रश्न का ऐसा व्यापक अर्थ करें तो फिर उससे ठीक वही अर्थ फलित होगा जो यहाँ दिया गया है ।

अठारहवाँ व्याख्यान

(१)

१८६. स्थितप्रज्ञ-लक्षणों की अनुभवसिद्ध फलश्रुति ।

स्थितप्रज्ञ-लक्षण यहां समाप्त होते हैं। अब अन्तिम श्लोकों में फलश्रुति कही गई है। परन्तु कई लंबे-चौड़े धर्म-ग्रन्थों की फलश्रुति जैसी बेकार होती है वैसी पद्धति गीता की नहीं है।

गीता में हर जगह अनुभव-सिद्ध, युक्तियुक्त और सुनिश्चित फलश्रुति बताई गई है। यहाँ भी वैसी ही शास्त्रीय फलश्रुति दी गई है।

> एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
> स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥

हे अर्जुन, इस स्थिति को ब्राह्मी स्थिति कहते हैं। जो इसे प्राप्त कर लेता है वह फिर उससे नहीं डिगता, "मरण-काल में भी वह स्थिति ज्यों-की-त्यों कायम रहती है और इसके फलस्वरूप वह ब्रह्म-निर्वाण प्राप्त करता है।" आखिरी श्लोक में यही फलश्रुति बताई है।

१८७. 'स्थिति' शब्द का स्वारस्य ।

यहाँ का 'स्थिति' शब्द 'वृत्ति' से पृथक्ता सूचित करता है। 'स्थितप्रज्ञ' शब्द में भी यही शब्द प्रयुक्त हुआ है। 'वृत्ति' और 'स्थिति' शब्दों का अन्तर उनके धात्वर्थ पर ध्यान देने से

और अधिक स्पष्ट होगा। 'स्थिति' में 'स्था' धातु है। 'स्था' का अर्थ है खड़े रहना। इसमें स्थिरता का, अचाँचल्य का भाव है। 'वृत्ति' में 'वृत्त' धातु है। इसका अर्थ है गोल-गोल घूमना, घूमते रहना। 'वर्तुल' शब्द में भी यही धातु है। 'वृत्ति' में अस्थिरता का, एक जगह टिककर न रहने का भाव है। मनुष्य की वृत्तियाँ टिकती नहीं हैं। वे बदलती रहती हैं। जागृति के बाद सुषुप्ति आती है और सुषुप्ति से स्वप्न। फिर जाग्रतावस्था में कभी क्रोध-वृत्ति, व कभी मोह, उत्साह व नैराश्य आदि कई वृत्ति-भेद पाये जाते हैं। इस तरह अनेक वृत्ति-भेद होते हुए भी योगशास्त्र ने उनके पाँच वर्ग बनाये हैं। इन पांचों प्रकार की वृत्तियों से अलग होना ही 'योग' है। इसको साधने के लिए आठ सीढ़ियाँ बताई गई हैं। उनमें अंतिम सीढ़ी है समाधि अर्थात् 'ध्यान-समाधि'। लेकिन ध्यान-समाधि योग नहीं है। क्योंकि वह भी एक वृत्ति ही है। हाँ, वह आखिरी वृत्ति है, फिर भी वह योग नहीं है। योग अर्थात् सब वृत्तियों का अभाव अथवा अधिक सही भाषा में कहें तो सब वृत्तियों के प्रभाव का अभाव। समाधि है—ध्यान-वृत्ति का परिपाक। यों तो मनुष्य की वृत्ति या तो विक्षिप्त अर्थात् चंचल या गतिमान रहती है, अथवा शून्य होती है। समाधि में वह स्थिर होती है। अब स्थिर में 'स्था' धातु जरूर आ जाती है परन्तु वह उतने ही समय के लिए।

१८८. आत्म-ज्ञान और ध्यान-समाधि का भेद—ध्यान उतर जाता है।

समाधि से मुख्य लाभ यह होता है कि दूसरी सब वृत्तियों को हटाकर एक इष्टदेव के चिन्तन की वृत्ति ही उसमें बाकी रहती है। इष्टदेव को हम सर्वमंगल गुणों से परिपूर्ण मानते

हैं, इसलिए उसके चिन्तन से चित्त का मेल धोने में बड़ी सहायता मिलती है। लेकिन यह ध्यान-समाधि भी कुछ समय बाद उतर जाती है। ध्यान-समाधि-रूप वृत्ति के भी उस पार जाने पर वृत्ति-शून्य स्थिरता प्राप्त होती है। इसे योगशास्त्र में 'प्रज्ञा' कहते हैं। इसी प्रज्ञा के स्थिर होने पर चित्त सहज ही निर्मल, प्रसन्न, शान्त व आत्म-निष्ठ रहता है। यही ब्राह्मी-स्थिति है। यही स्थितप्रज्ञ की हमेशा टिकने वाली सहजावस्था है। समाधि की वृत्ति लानी पड़ती है। उससे व्युत्थान होता है। व्युत्थान का अर्थ है चलन। इसमें यह व्युत्थान नहीं है। ब्राह्मी स्थिति और ध्यान-समाधि में यही अन्तर है। आरम्भ में ही हमने इसे देख लिया है। उसीका यहाँ अधिक विवरण किया है। ब्राह्मी स्थिति नित्य है। उसके प्राप्त हो जाने पर फिर उससे चलन नहीं होता। "नैनां प्राप्य विमुह्यति" फिर मोह नहीं होता। अन्य ज्ञानों की तरह आत्मज्ञान में 'पुनश्च हरि ॐ'—फिर से श्रीगणेश नहीं करना पड़ता।

१८६. आत्मज्ञान और अन्य ज्ञानों का भेद। अन्य ज्ञान भार-रूप।

'ज्ञान' व 'ध्यान' में तो भेद है ही, परन्तु आत्मज्ञान और अन्य ज्ञानों में भी भेद है। ध्यान कृत्रिम होता है। वह प्रयत्नपूर्वक स्वीकार की गई वृत्ति है। ज्ञान वैसा कृत्रिम नहीं है। वह प्रयत्नपूर्वक लाया हुआ नहीं होता। यह तो हुआ ज्ञान और ध्यान का अन्तर। परन्तु अन्य सब प्रकार के ज्ञानों और आत्मज्ञान में भी महत्त्वपूर्ण अन्तर है। मैंने भूगोल का अभ्यास किया। परीक्षा समाप्त हुई कि अब उस ज्ञान की आवश्यकता नहीं रही। उसे भूल गये। काशी में रहते हुए युक्तप्रान्त की रेलगाड़ियों का समय-पत्रक मुझे याद था, पर अब

उसकी ज़रूरत नहीं, भूल गया। यह ज्ञान बाह्य विषयों का होने के कारण बुद्धि के लिए भार-स्वरूप होता है। जबतक उसका उपयोग होता है तभी तक बुद्धि उसका भार-वहन करती है। काम निपटते ही उसे फेंक देती है। ऐसे अवान्तर-ज्ञान का वहुत-सा बोझा बुद्धि पर लादना भारी विद्वत्ता का लक्षण समझा जाता है। भारी-भरकम विद्वत्ता का अर्थ है बुद्धि पर अधिक बोझ लादकर उसे कमकूवत बनाना। ऐसी भारी विद्वत्ता से बुद्धि में जड़ता और स्थूलता ही आवेगी। भगवान करे, ऐसी भारी-भरकम विद्वत्ता किसीको न मिले। यह बात आत्मज्ञान पर लागू नहीं होती। आत्मज्ञान बोझ नहीं है।

१६०. आत्मज्ञान, ध्यान और इतर ज्ञानों का अधिक विवरण।

ध्यान की कोटि बिल्कुल अलग है। हम उपमा देते हैं, उदाहरणों से विषय को स्पष्ट करते हैं, रूपकों का उपयोग करते हैं, चित्र बनाते हैं, ये सब ध्यान के ही प्रकार हैं। एक वस्तु का दूसरी वस्तु पर आरोप करना ध्यान है। किसी संकेत को वस्तु का प्रतिनिधि समझना ध्यान का तत्त्व है। अर्थात् ध्यान एक बनावट है। कागज पर हम 'आलमारी' ये अक्षर कलम से लिखते हैं और लकड़ी की आलमारी का आरोप उन अक्षरों में करते हैं। यह है ध्यान। उससे ज्ञान नहीं बढ़ता। साहित्य के अलावा उसका स्वतंत्र उपयोग भी नहीं है। अक्षरों की उस आलमारी में घी की बरनी नहीं रखी जा सकती। वह तो सिर्फ एक वस्तु का चित्र अथवा प्रतीक है। अलग-अलग भाषाओं में ऐसे एक ही वस्तु के कई प्रतीक होंगे। लेकिन किसी संकेत को वस्तु का प्रतिनिधित्व देना—यह आखिर बनावट ही है। ध्यान की तरह बाह्य विषयों का ज्ञान बनावट न होने पर

भी, वह आत्मा के बाहर का होने से, उसका बोझा बुद्धि पर रहता है। यह अमुक वनस्पति है, इसके अमुक-अमुक गुण-धर्म हैं। यह सब मैंने उनपर लादा नहीं है, यह सच है, अर्थात् यह वस्तुज्ञान है, लेकिन है बाहरी। वह मुझे याद रखना पड़ेगा। किन्तु यह बात आत्मज्ञान में नहीं है। वह जिस तरह बनावटी नहीं है उसी तरह बाहरी भी नहीं है। इसलिए वह एक-बार प्राप्त होने पर हमेशा रहेगा। फिर उसके मलिन होने या नष्ट होने की संभावना नहीं है। यानी वह ज्ञान बौद्धिक नहीं, आत्मगत है। आत्मा में व्याप्त हो गया है अब वह किसी भी प्रकार से जुदा या अलग न होगा। इसीको कहा है, "नैनां प्राप्य विमुह्यति"।

१६१. ब्राह्मी स्थिति अंत काल में भी टिकती है।

"स्थित्वास्याम् अन्तकालेऽपि"—'अन्तकाल में भी यह स्थिति टिकके,' इन शब्दों का अर्थ यह करते हैं कि अन्त-काल में भी ब्राह्मी स्थिति को टिका रखना चाहिये। मनुष्य का अन्तकाल कठिन माना जाता है। उस समय अपनी स्थिति को टिकाये रखना सरल नहीं है। तब इतने प्रयास-पूर्वक प्राप्त की गई स्थिति ऐन मौके पर अर्थात् आखिरी क्षण में न रहे तो सारा ही किया-कराया धूल में मिल जायगा। अन्त समय में गाड़ी फिसल पड़े तो सभी चकनाचूर हो जायगा। इस-लिए आमरण और मरण के समय भी उस स्थिति को टिकाये रखने की चिन्ता रखनी चाहिए, ऐसी विशेष सूचना इस वाक्य से ग्रहण की जाती है, परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है। अन्तकाल का महत्त्व है, इसमें कोई सन्देह नहीं। और यह भी सच है कि साधक को उसके लिए अन्त समय तक जागरूक रहना चाहिए। इसीलिए गीता के आठवें अध्याय में प्रयाण-कालीन

साधना सविस्तर बताई गई है। और वहीं यह सूचना भी दे दी गई है कि इस प्रयाण-काल की साधना को शक्य बनाने के लिए जीवन भर वैसा अभ्यास करते रहना चाहिए। परन्तु यह सब साधकावस्था के लिए है, 'ब्राह्मी-स्थिति के लिए नहीं। वास्तव में ऐसी बात ही नहीं है कि ब्राह्मी-स्थिति का क्षणमात्र के लिए अनुभव हो और बाद में शायद वह चली जाय; और इसलिए उसे टिकाये रखने का सतत प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि ब्राह्मी स्थिति कोई वृत्ति नहीं है। वह तो निरन्तर रहने वाली अवस्था है। उसे संभाल बैठने की आवश्यकता ही नहीं होती। वह तो टिकेगी ही। विकट माने जाने वाले अन्तकाल में भी वह नहीं डिगेगी। यह 'अन्तकालेऽपि' का अर्थ है। स्थिति शब्द में जो अर्थ सूचित किया गया है उसका विवरण "नैनां प्राप्य विमुह्यति' वाक्य के द्वारा किया है। और वही फिर 'स्थित्वास्याम् अन्तकालेऽपि' वाक्य-खंड के द्वारा विशद किया गया है।

१९२. ब्राह्मी स्थिति में 'अगर-मगर' के लिए अवकाश नहीं है।

ब्राह्मी स्थिति हमेशा टिकती है, आपत्काल में भी टिकती है और मरण-काल में भी टिकती है। अन्य ज्ञानों की तरह वह भूलने जैसी नहीं है। एक मनुष्य को कोई बीमारी हो गई। उसने अंग्रेज़ी की कई परीक्षाएँ दी थीं। और हुआ क्या कि अपने दीर्घ-कालीन और तीव्र रोग में वह अंग्रेज़ी का सारा ज्ञान एकदम भूल गया; क्योंकि वह सारा ज्ञान उसकी आत्मा के सिर लादा गया था। रोग से कमज़ोर हुई बुद्धि ने उसे फेंक दिया, यह ठीक ही किया। परन्तु आत्मज्ञान को यह बात नहीं है। भले ही वह लाखों जन्मों तक प्राप्त न हो, पर

एक बार प्राप्त होने पर फिर वह जा नहीं सकता। प्राप्त आत्म-ज्ञान अगर अन्त समय में भी टिका तो ब्रह्म-निर्वाण प्राप्त होता है, ऐसा 'अगर-मगर' का बखेड़ा यहाँ नहीं है। 'अगर-मगर' वाले अर्थ की यहाँ गुंजाइश नहीं है। वस्तुतः यही स्पष्ट करने के लिए यह श्लोक है।

१९३. शंकराचार्य का विशेष अर्थ उपयुक्त : लेकिन अनावश्यक।

शंकराचार्य के ध्यान में यह बात आये बिना नहीं रही। अतः उन्होंने 'अगर-मगर' वाले अर्थ को टालने के लिए एक दूसरी ही तरह से भाष्य किया है। अन्तकाल में, अर्थात् बिल्कुल अन्तिम क्षण में भी यदि यह स्थिति प्राप्त हो जाय तो भी मनुष्य ब्रह्म-निर्वाण प्राप्त कर लेगा, ऐसा उन्होंने अर्थ किया है। आचार्य का यह कथन सत्य है; लेकिन इस श्लोक के शब्दों से वैसा अर्थ निकालने की जरूरत नहीं मालूम होती। 'स्थित्वास्याम् अंतकालेऽपि' इन शब्दों का स्वारस्य या खूबी उसमें नहीं है। यह अवस्था इतनी दृढ़ और अडिग होती है कि अत्यन्त विकट माने जाने वाले अन्त समय को भी दाद नहीं देती, उस समय भी यह नहीं गड़बड़ाती। ऐसी इस श्लोक की ध्वनि दिखाई देती है। आचार्य का अर्थ अनर्थ तो नहीं, परन्तु शब्द से दूर चला जाता है। और जो अर्थ ब्राह्मी-स्थिति को टिकाने के लिए प्रयत्न करने की आवश्यकता बताता है उसे तो महज अर्थवाद ही कहना पड़ता है।

(२)

१९४. गीता का परम लक्ष्य ब्रह्म-निर्वाण। वही जीवन की सफलता।

अन्त में 'ब्रह्म-निर्वाणम् ऋच्छति' इस वाक्य के द्वारा फल-श्रुति बताई गई है। 'स्थितप्रज्ञ' की तरह 'ब्रह्म-निर्वाण' भी गीता का अपना विशिष्ट शब्द है। 'ब्रह्म-निर्वाण' का अर्थ है ब्रह्म में मिलना, घुल जाना, लीन हो जाना। 'ब्रह्म-निर्वाण को जाता है' इसका अर्थ यह नहीं कि ब्रह्म दूसरी किसी जगह है और उसमें लीन होने के लिए कहीं जाता है। मुझमें और ब्रह्म में बाह्यतः देहाभिमान का परदा पड़ा दिखाई देता है। उस परदे का नष्ट हो जाना ही ब्रह्म में लीन हो जाना है। ब्रह्म तो मैं पहले से ही हूँ। देहाभिमानरूपी परदा हटाकर ब्रह्म में लीन होना, उसमें मिल जाना इसीमें मनुष्य-जीवन की सफलता है, इस आशय का सूचक शब्द 'ब्रह्म-निर्वाण' है। सारांश यह कि इस शब्द के द्वारा गीता यही सूचित करती है कि सारा जीवन-व्यापार, व्यक्तिगत संसार, समाज-सेवा, ज्ञान-संपादन, ध्यान आदि सब बातें इसी उद्देश को सामने रखकर करनी चाहिए।

१९५. ब्रह्म-निर्वाण का अर्थ है देह को फेंककर व्यापकतम होना।

ब्रह्म का अर्थ है विशाल, व्यापक। संकुचित जीवन को छोड़कर ब्रह्मरूप होना हमारा ध्येय है। एक जीव दूसरे की अपेक्षा बड़ा है। इस तरह दूसरे से तीसरा बड़ा है। जीवों में परस्पर ऐसा तर-तम-भाव पाया जाता है। तब भी ब्रह्म की तुलना में जीव बहुत छोटा है। कितना ही हो, फिर भी वह परिमित है। एक सीमा में बँधा हुआ है। यह बद्धता छोड़कर आजाद, खुला होना, व्यापक होना, उसका ध्येय है। उस दिशा में प्रगति करना, उत्तरोत्तर व्यापकतर होते जाना-यह उसकी साधना की दिशा है। व्यापकतम स्थिति

प्राप्त होने का ही अर्थ है ब्रह्म-निर्वाण। वहाँ देह का परदा हट जाता है। यों देखा जाय तो देह साधक के लिए एक साधन रूप है। कुछ समय तक वह साधना के लिए उपयोगी होता है। आगे मनुष्य की स्थिति जैसे-जैसे व्यापक होती जाती है, देह को वह पीछे-पीछे छोड़ता जाता है। इस व्यापकता के अभ्यास में ही प्रारम्भिक अवस्था में देह एक साधन का काम देता है। लेकिन वाद की प्रगत अवस्थाओं में वह एक विघ्नरूप होने लगता है। ज्ञान, ध्यान, उपासना, कर्मयोग इन सवके लिए प्रारम्भ में देह 'उपकारक' होता है। पर वाद में इन सब का परिपाक विश्वव्यापी साक्षात्कार में होने पर सव कुछ आत्ममय दिखाई देने लगता है। इस अनुभूति के वाद देह निरुपयोगी होने लगता है।

१९६. इसी स्थिति में लोक-संग्रह परिपूर्ण होता है।

इस स्थिति में भी, वल्कि इस स्थिति में विशेषतः, उसके द्वारा लोक-संग्रह होता दिखाई देता है। लोगों की दृष्टि में वह लोक-संग्रह महान् भासता है, पर ज्ञानी पुरुष की अपनी दृष्टि से वह अल्प होता है। जव कोई ज्ञानी पुरुष मरता है तो हमें लगता है कि वड़ा नुक़सान हो गया, इतने महान् लोक-संग्रह से हम वंचित हो गये। तव भी उसकी मृत्यु-तिथि को पुण्य-तिथि कहना पड़ता है। हमें वह पुण्यदिवस प्रतीत नहीं होता। तत्वज्ञ संतों ने हमपर यह शब्द लाद दिया है और हमने उसे चुपचाप स्वीकार कर लिया है। परन्तु वह शब्द अर्थभरित है। वास्तव में वह पुण्यतिथि ही होती है। ज्ञानी पुरुष के सच्चे लोक-संग्रह की उस दिन से शुरुआत होती है। उसके पहले जो लोक-संग्रह हुआ वह वास्तव में वहुत अल्प होता है। ज्ञानी पुरुष का होने पर भी उसका शरीर

तो इतना-सा ही ठहरा न ! उसके द्वारा कितना लोक-संग्रह हो सकेगा ? लेकिन शरीर के द्वारा होने के कारण वह लोक-संग्रह प्रकट रहता है, दिखाई देता है। इस दर्शन-मोह के कारण, ज्ञानी पुरुष का शरीर-पात होने पर हमें प्रतीत होता है कि बहुत बड़ा नुक़सान हो गया। लेकिन सच तो यह है कि सर्व-भूत-सेवा में यह शरीर आखिर बाधक ही होता रहता है।

१९७. वहाँ देह नहीं है, क्योंकि देह की आवश्यकता नहीं है।

शरीर का परदा रखते हुए सब भूतों में पूर्ण समरस होना शक्य नहीं है। शरीर के कारण सबके हृदय में प्रवेश करने में बाधा आती है। जबतक हमारे अपने विशिष्ट हृदय का होना ही दूसरे के हृदय को पहचानने का साधन होता है तबतक शरीर काम की चीज है। मैं खुद अपनी भूख-प्यास, सुख-दुःख इत्यादि अनुभवों से दूसरे की स्थिति को समझ पाता हूँ, इसीसे आत्मौपम्य की साधना के लिए मुझे अवसर प्राप्त होता है। मेरा हृदय जबतक दूसरे की स्थिति को समझने का नाप होता है तबतक शरीर का काम रहता है। लेकिन सर्वभूत-हृदय का साक्षात्कार होते ही, तादात्म्य की अनुभूति होते ही विशिष्ट देह, विशिष्ट इन्द्रियाँ, विशिष्ट मन, विशिष्ट बुद्धि, विशिष्ट हृदय, ये सब 'विशिष्ट' बाधक हो जाते हैं, उपाधि साबित हो जाते हैं, इसलिए इन सब उपाधियों को तोड़-कर देहभाव फोड़कर, सर्व-भूत-हृदय से तादात्म्य पाना, अनन्त में लीन होना, ब्रह्म में घुल-मिल जाना, यह अन्तिम ध्येय समझ में आने लायक है। इसीको ब्रह्म-निर्वाण कहते हैं।

(३)

१९८. बौद्धों ने निषेधक शब्द 'निर्वाण' ले लिया।

बौद्धों ने इसमें से ब्रह्म निकालकर सिर्फ 'निर्वाण' शब्द को ले लिया है। इसका अर्थ इतना ही है कि बौद्धों को निषेधक भाषा पसन्द आई। मनुष्य अपनापन छोड़ दे, अहंतारूपी मटके को फोड़ डाले, इसी भाव का सूचक 'निर्वाण' है। मनुष्य के मरने पर उसके नाम से हम एक हण्डी फोड़ते हैं। हिन्दू-धर्म-शास्त्र ने ऐसी एक विधि चला दी है। इसके मूल में यह कल्पना है कि यह यों भी 'मरा' तो कहा ही जायगा, पर इसे सच्चे अर्थ में मर जाने दो। उसकी वासना का ठीकरा फूट जाने दो, उसकी अहंता का नाश हो जाने दो। शरीर की राख कर डालने का हेतु भी यही है। बाप मर गया, उसे गाड़ दिया और समाधि पर आम का पेड़ लगाया। उसमें आम लगे। हम कहते हैं, मेरे पिता की समाधि पर के ये आम हैं। माँ को खेत में गाड़ा। नींबू का पेड़ लगाया। इस नींबू को मेरी माँ की हड्डियों का खाद मिला। इस मोह से लोगों को छुड़ाने के लिए दहन-क्रिया शुरू की है। यह दहन-क्रिया एक महान् विचार का चिह्न है। मृत व्यक्ति किसी-न-किसी रूप में हमसे चिपका रहे—यह मोह किसलिए? मैं क्या ऐसा पारस मणि हूँ जो मुझसे चिपके रहने से उसका जीव सोने का हो जायगा? मरने पर भी मनुष्य किसी-न-किसी रूप में शेष रहे, इस भाव से उसे गाड़कर उसपर चबूतरा बनाना, निदान एक पेड़ ही लगा देना, या और कुछ नहीं तो कम-से-कम उसके नाम का एक पटिया ही लगा देना, यह मर जाने पर भी उसे फिर से पकड़ रखने के प्रयत्न जैसा ही है। इसीलिये दहन का मार्ग निकला। तब भी स्मारक बनते ही हैं।

जलाकर राख बना दो तो फिर बिल्कुल खतम हो जायगा। इस निषेधक भावना का द्योतक होने से बौद्धों ने निषेधक शब्द पसन्द किया है! मनुष्य का मोह उसकी देह के साथ ही नष्ट हो जाय, वह शून्य हो जाय, इसीलिये बौद्धों ने अकेला 'निर्वाण' शब्द ही लिया है।

१६६. वैदिकों को 'ब्रह्म-निर्वाण' विधायक जैसी भाषा मधुर प्रतीत हुई।

किन्तु वैदिकों ने 'ब्रह्म-निर्वाण' इस विधायक शब्द को पसन्द किया। वैदिकों को विधायक भाषा अच्छी लगी। क्यों लगी, यह देखो तो दोनों पक्षों की भाषा की मधुरता और मर्यादा ध्यान में आ जायगी। भाषा का पूर्ण रूप से निर्दोष होना संभव नहीं है। भाषा का स्वरूप ही ऐसा विलक्षण है कि वह एक तरफ से अर्थ समझाती है तो दूसरी तरफ ग़लतफ़हमी पैदा करती है। अतः विधायक और निषेधक दोनों तरह की भाषा का भाव समझकर जो रुचे उसे स्वीकार करो। वैदिकों को लगा कि मोक्ष को अभाव-रूप में कहने की अपेक्षा भावरूप में कहना उचित है। वैदिकों को लगा कि 'हम नष्ट हो गये', 'शून्य हो गये' कहने की अपेक्षा हम 'व्यापक हो गये' 'अनन्त हो गये' कहना अधिक अच्छा है। इसके विपरीत बौद्ध कहते हैं 'मिट गये' ऐसा कहने में घबराते क्यों हो? जरा हिम्मत करो। शून्य बनो। 'मिट जाने' का डर छोड़ो। 'मैं अनन्त होऊँगा, व्यापक होऊंगा, सर्वमय होऊंगा'—इसमें अस्तित्व का जो मोह है उसे छोड़ दो। इसपर वैदिक कहते हैं, यहां डर और मोह का प्रश्न नहीं है। अनुभूति के विरुद्ध कल्पना कैसे करें? अबतक नाना प्रकार की साधना करके सब कुछ छोड़ा और आत्मनिष्ठ बने। जन्म-मृत्यु को पीछे छोड़

कर अपना वास्तविक स्वरूप प्राप्त किया। धर्म से अधर्म का नाश किया, फलत्याग से धर्म को आत्मसात् किया, ईश्वरार्पण के द्वारा फलत्याग को उड़ाया, अन्त में अद्वैतानुभूति से ईश्वर को भी अपने में समा लिया, अब वह मैं ही मिटने वाला हूँ यह कैसे मानूं ? सब अवस्तुओं का हम निराकरण करने पर शेष बचने वाला जो मैं हूँ वही व्यापक हो गया है, ब्रह्ममय हो गया है, यही कहना अधिक युक्तियुक्त है।

२००. वस्तुतः दोनों एक ही हैं।

लेकिन मोक्ष को भावरूप कहने पर भी उसमें कुछ नवीन जोड़ना है, यह आशय वैदिकों का भी नहीं है। इसके विपरीत बौद्ध भी आत्मा के अस्तित्व का निषेध करना चाहते हैं ऐसा खयाल करना भी मेरी समझ से उनके आशय को गलत समझना है। ऐसी गलतफहमी बहुतों को हुई है, बड़े-बड़ों को हुई है, तब भी वह है तो ग़लतफ़हमी ही। बौद्धों को 'मैं' की भाषा नहीं चाहिए। फिर बाकी कुछ भी क्यों न हो ? इसलिए यह भाषा-भेद मुख्यतः रुचि-भेद के कारण हुआ है, यही समझना चाहिए। इसमें अर्थ की दृष्टि से मुझे तो खास कोई भेद दिखाई नहीं देता। अच्छा ही है कि बौद्धों को 'मैं' से अरुचि है। अनेक हीन-अनुभवों के कीचड़ में लथपथ 'मैं' की जरूरत ही क्या ? और सच पूछो तो 'ब्रह्म-निर्वाण' शब्द में उसे कहां जगह दी गई है ? सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो 'ब्रह्म-निर्वाण' शब्द केवल विधायक नहीं है। वह निषेधक अर्थ को गर्भ में लिए हुए विधायक है। दोनों अर्थों के संग्राहक के रूप में ही गीता ने उसकी तजवीज की है। 'ब्रह्म-निर्वाण' कहने पर 'मैं' चला गया। ब्रह्म बाकी बचा। इसमें डरने की कोई बात

ही नहीं। जहाँ शब्द ही समाप्त हो जाते हैं वहां शब्दों के लिए झगड़ा ही क्या ? गीता की भाषा में मैं तो कहूँगा, "एकं ब्रह्म च शून्यं च, यः पश्यति स पश्यति" जो ब्रह्म और शून्य को एक देखता है वही देखता है। इसलिए 'ब्रह्म-निर्वाण' शब्द के द्वारा सारा वाद ही मिटा दिया है।

॥ यहाँ स्थितप्रज्ञ का दर्शन परिपूर्ण होता है ॥

॥ ॐ तत् सत् ब्रह्मार्पणमस्तु ॥